मीडिया
खबरों की बुनियाद

राम आह्लाद चौधरी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रकाशक

अनुक्रम

१. खबरों का संघर्ष

२. असल खबरों की पहचान

३. खबरों की तेजस्विता

१० अप्रैल, २०१४ राम आह्लाद चौधरी

१.खबरों का संघर्ष

खबरों का संघर्ष लाजवाब होता है। संघर्ष के बिना खबरों को समाज में स्थान नहीं मिलता है। खबरों का संघर्ष चौतरफा होता है। उस संघर्ष में खबरें अपने सारे गुणों के साथ उपस्थित होती हैं। खबरों की सुन्दरता समुन्दर से भी बड़ी होती है। दरअससल सुन्दरता ही खबरों की सबसे बड़ी विशेषता है। मीडिया पर बार-बार यह आरोप लगाया जाता है कि खबरों को तोड़-मरोड़ दिया गया। ऐसा क्या कारण है कि मीडिया पर खबरों को तोड़ने-मरोड़ने का आरोप लगाया जाता है? इस तोड़-मोड़ के लिए कौन जिम्मेदार है? खासकर इन दोनों प्रश्नों को ध्यान में रखकर मीडिया का विश्लेषण करना जरूरी है। दुनिया जानती है कि मीडिया वर्तमान का विश्लेषण करने के साथ-साथ वर्तमान में घटते घटनाक्रमों की सूचना समाज को देता है। समाज को इस सूचना से काफी लाभ मिलता है। सूचना अपने-आप में सारहीन है, लेकिन जब उसका मोटिवेशन पावर सार्वजनिक हो जाता है, तब वह समाज के लिए उपयोगी साबित हो जाता है। सच तो यह है कि मीडिया समय के झरोखे पर बैठकर सारे बयानों का अवलोकन करता है। विचार को प्रभावित करने के साथ-साथ सामाजिक सोच को बदल देता है। इस बदलाव के लिए सदियों से आ रहे संघर्ष को महत्वपूर्ण मानना उचित है। हर युग को संघर्ष ने ही बदला है लेकिन इस संघर्ष का चालाकी से बार-बार मुकाबला करना पड़ा है। झूठ-फरेब-धूर्तता के विरुद्ध जन-मानस ने संग्राम किया है, लेकिन अभी तक झूठ-फरेब का पूरा अंत नहीं हुआ। उसके अंत होने की कहानी लिखने के लिए न मीडिया कल तैयार था और न आज है। इसके बावजूद मीडिया के कंटेंट में बार-बार झूठ-फरेब-धूर्तता की निंदा की गयी

है। झूठ-फरेब सर्वनाश होने का एक तरह से आमंत्रण है। जो अपने-आप को नाश के मुँह में धकेलना चाहता है, वह झूठ-फरेब को गले लगाता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि झूठ-फरेब लगातार किसी को सफलता दे।

दुनिया वर्तमान में एक भारी संकट से गुजर रही है। संकट महामारी से भी बड़ा है। यह प्राकृतिक आपदा नहीं है। यह संकट आर्थिक संकट है। इसके लिए साम्राज्यवाद के एजेंडे दोषी हैं। साम्राज्यवादी शक्तियों ने पूरी दुनिया में अपने सिर-दर्द का आवंटन किया है। क्या कोई ऐसा मुल्क है, जिसने वर्तमान में साम्राज्यवादी एजेंडों को लागू न किया हो। इसके चलते पूरी दुनिया में हाहाकार मच गया है। इस हाहाकार की खबरों को मीडिया ने समय-समय पर अपने तौर-तरीके से उपस्थित करने का काम किया है। समाज में उन खबरों का महत्व रहा है। जिस तरह उन खबरों ने समाज को प्रभावित किया है, ठीक उसी तरह समाज ने भी उन खबरों को अपनी शर्तों पर स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए भ्रष्टाचार की खबरों को देखा जा सकता है। भ्रष्टाचार की खबरें इस तरह आने लगीं; इन खबरों को देखने से यही महसूस हुआ कि रंध्र-रंध्र में भ्रष्टाचार समा गया है। भ्रष्टाचार का घोर विरोध हुआ। कुछ खास किस्म के चिंतकों ने इस भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन की राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम से तुलना की। सर्वविदित है कि तुलना करने की पद्धति अमेरिकी पद्धति है। इस पद्धति ने मानव-समाज को कुंठा देने के अलावा कुछ और नहीं दिया। दुनिया के जिस देश ने इस पद्धति को अपनाया, उस देश को ढलान पर खड़ा होना पड़ा। इस पद्धति ने उस देश की संस्कृति का सर्वनाश किया। इस सर्वनाश को बड़े पैमाने पर मीडिया ने उपस्थित नहीं किया। छिटपुट घटनाओं की अभिव्यक्ति से न खबर बनती है और न सच सामने आता है। दावा करने वाले दावा करते हैं कि खबरों की सारी दिशाओं के साथ वह मौजूद है, लेकिन खबर की धरती कहां है, वही एक सिरे से खबरों में गायब रहती है। खबर तभी खबर बन पाती है, जब उसकी धरती मौजूद रहे। खबरों की धरती को बचाना जरूरी है।

वर्तमान में खबरों की दुनिया में बाढ़ के इस गंदला पानी से प्लावित हो चुकी है। मीडियाकर्मी इसी इन्तजार में हैं कि कब इस जमीन से बाढ़ का

गंदला पानी जाय। लेकिन जब तक यह पानी बना रहेगा, तब तक मीडियाकर्मियों के लिए काम करना कठिन है। इस कठिन कार्य को जिस साहस से मीडियाकर्मी कर रहे हैं, वह निश्चित रूप से सराहनीय है। इस सराहनीय कार्य को बड़े पैमाने पर उपस्थित करने के लिए दुनिया के विभिन्न भागों में लोग अपने-अपने ढंग से लगे हुए हैं। यह भी एक तरह का विकास है। और जहां भी जैसा भी विकास हो, वह विकास वर्ग संघर्ष का हिस्सा है। एक-एक चालाकी का पर्दाफाश किसी न किसी रूप में वर्ग-संघर्ष को बल पहुँचाता है। यहां तक कि इस प्रौद्योगिकी विकास ने भी वर्ग-संघर्ष को बढ़ाया है। यह एक निरंतर प्रक्रिया है, जो समाज को बदल देती है। किसी शासन-प्रशासन का आकंलन इसी आधार पर होता है। यह आधार विकास की कसौटी है। मीडिया इस कसौटी पर खुद को खड़ा करने की हिमायत करे या न करे; लेकिन खुद के अस्तित्व की रक्षा करने में उसकी भूमिका को नजरअंदाज करना नामुमकिन है।

अस्तित्व की रक्षा भी एक तरह से वर्ग-संघर्ष का ही हिस्सा है। पर अस्तित्व की रक्षा जब राजनीतिक आवरण में आकर गुल खिलाने लगती है, तब एक समस्या उत्पन्न होती है। यह समस्या समाज को बांटने की कोशिश करती है। बंटवारे का देश कितना पीड़ादायक है, यह बात कोई पंजाब और बंगाल के इतिहास को पढ़कर समझ सकता है। कश्मीर की समस्या इन दोनों प्रदेशों से भी बढ़कर है। वैसे तो समस्या हर जगह और हर प्रांत में है। इस सम्बन्ध में लोगों ने अपनी राय भी जाहिर की है। इस कार्य को समझने में कई तरह की परेशानी भी हुई है, पर राय तो राय होती है, चाहे वह जनता की राय हो या अदालत की राय हो। राय को मानना जनतंत्र के पक्ष में एक कदम आगे बढ़ना है। हर कोई जनतंत्र की रक्षा करना अपना फर्ज समझता है। जिस देश में ८० करोड़ जनता आधा पेट खाकर दिन गुजारती हो, उस देश की जनता की समझ क्या ह्वाइट हाउस में बैठे ब्लैक प्रेसीडेंट के समान होगी ? यह सोचना भी एक तरह अन्याय है।

जिस शासन ने साक्षरता नहीं दिया। जिस शासन ने सिंचाई का प्रबंध नहीं किया, जिस शासन ने गरीबों-पट्टाधारियों से पट्टा छीनने का काम

किया, उस शासन से क्या कुछ उम्मीद रखना उचित है और उस शासन के पिछलग्गुओं पर भरोसा करना कहां तक उचित है। इस सच को जानते हुए भी उन पिछलग्गुओं पर भरोसा करना तथा उन्हें रास्ते पर लाना वर्तमान की जिम्मेदारी है। सपेरा बनने के लिए सांप का दंश जिस तरह बर्दाश्त करना पड़ता है, उस तरह शासन के दांत निकालने के लिए उसके दंश को झेलना पड़ता है। भारत की बहादुर जनता विगत साढ़े छह दशकों से इस दंश को झेल रही है; पता नहीं आखिर कब तक हमारा समाज इस दंश को झेलता रहेगा। आने वाले समय में कोई नया सूरज निकले या न निकले लेकिन जनतंत्र पसंद-धर्मनिरपेक्ष लोगों की जय-यात्रा इस अंधेरे में जारी रहेगी। इस जय-यात्रा को रोकने की सामर्थय्य न किसी शासन में है और न किसी प्रशासन में। इस शासन-प्रशासन को बार-बार अपना चेहरा चमकाने के लिए बार-बार कुछ न कुछ निगलना पड़ा है। इस निगलने-उगलने की प्रक्रिया में देशवासियों को कई ऐसे सच का पता चला है; जिन्हें देखकर बड़े-बड़े प्रशासकों के चेहरे बेनकाब हुए हैं। देशवासियों ने बार-बार कहा है कि राजा; तुम्हारा कपड़ा कहां है? क्या राजा में इतनी हिम्मत है कि वह कहे कि वह नंगा हो चुका है, क्या वह अपनी गलती के लिए क्षमा याचना कर सकता है।

मीडिया इसी लड़ाई को आगे बढ़ाने की घटनाओं को सार्वजनिक करता है। इन सार्वजनिक क्रियाकलापों में दर्शकों-पाठकों की भूमिका रचनाकर्मियों-मीडियाकर्मियों पर निर्भर होती है। यही कारण है कि रचना से जुड़ा हर रचनाकार इस जिन्दगी को सजाने-संवारने का प्रयास करता है तथा समाज में एक वर्गीय दृष्टि पैदा करता है। इसी दृष्टि की खुशबू रचनाओं में मिलती है, जिसे मीडियाकर्मी किसी दृश्य में उपस्थित करने के लिए बोलता या लिखता है। इस दृष्टि का स्वाद मोहक होता है और इसकी पहुँच बहुत दूर तलक होती है; जिसकी जानकारी खाये-पीये-अघाये लोगों के पास नहीं होती है। इस तरह के प्राणी भ्रम में जीते हैं, और वे चारों तरफ भ्रम का जाल बुनते रहते हैं। भ्रामक स्थिति को कोई समझदार व्यक्ति ही दूर कर सकता है।

मीडियाकर्मी विजन को शब्द प्रदान करते हैं और दर्शक-पाठक शब्दों की ताकत को पहचानते हैं। उन दोनों के कार्यों में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध को जनता के बीच लाना और जनता की ताकत को राज घराने के सामने उपस्थित करना बहुत बड़ी बात है। मीडियाकर्मी के शब्द जब-जब गूंजते हैं, तब-तब खाये-पीये-अघाये लोगों की नींद हराम हो जाती है। अपनी नींद को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से खाये-पीये-अघाये लोग बार-बार ढोंग करते हैं कि उनके चलते ही मेहनतकश जिंदा हैं। सच तो यह है कि मजूरी मारने के चलते कोई धनवान समृद्धवान दिखता है। चमक के पीछे छिपी असलियत को मीडिया ही बाहर निकालता है। असलियत पर पर्दा डालना सहज़ है, लेकिन उसका पर्दाफाश करना कठिन है। इस कठिन कार्य को मीडियाकर्मियों के अलावा कौन दूसरा कर सकता है।

रचनाधर्मिता को किसी से प्रमाण-पत्र लेने की जरूरत नहीं पड़ती है। रचनाशीलता यदि प्रमाण-पत्र लेने का जुगाड़ करने लगे, तो उसकी स्थिति भी उसी तरह की हो जाती है, जैसे अन्तरराष्ट्रीय स्तर के शिक्षण संस्थान से अवकाश प्राप्त मुहल्ला स्तरीय 'विद्वान' द्वारा किसी सेठ की दुकान के ताले खोलने की स्थिति होती है। धन्नासेठों के मठों की कुंजी विद्वानों के हाथों में शोभा नहीं देती है चाहे वह विद्वान मुहल्ला स्तरीय हो या अन्तरराष्ट्रीय स्तरीय सच तो यह है कि अब मठ का युग समाप्त हुआ। साहित्य में मठ का युग पुनः स्थापित होना नामुमकिन है। निराला-मुक्तिबोध -नागार्जुन के रथों के चक्के पीछे नहीं घूमेंगे, क्योंकि मीडियाकर्मी अभी जिंदा हैं, षडयंत्र नहीं करने के लिए रचना करने के लिए सही मायने में पत्रकारिता के बिना जीवन अधूरा है यानी रचना अधूरी है। काश! सूरज अपना चेहरा आईने में देखता, काश! चांदनी को अपना मुखड़ा आईने में दिखता। सच मानो, समुन्दर नहीं होता तो चांदनी को अपनी सुन्दरता का भी अहसास नहीं होता। मीडिया नहीं होता तो समाज को अपनी संघर्षशीलता का भी पता नहीं होता।

वित्तीय पूंजी और मीडियाकर्मी

हिन्दी भाषी क्षेत्रों में कारपोरेट पूंजी का विरोध जोर-शोर से होता है। मजदूर-वर्ग की अपेक्षाकृत अधिक संख्या इन्हीं क्षेत्रों से आती है। उल्लेखनीय है कि अन्य भाषाओं में अखबार निकालने की अपेक्षा हिन्दी भाषा अखबार निकालने पर खर्च कम पड़ता है। हिन्दी प्रदेश में मजूरी कम दी जाती है। हिन्दी के पत्रकारों को आधी रोटी पर काम करना पड़ता है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रकाशित होने वाले अखबारों में कार्यरत पत्रकार आधी रोटी पर काम नहीं करते हैं। हिन्दी पत्रकार जब अखबार में काम करने के लिए आते हैं, तब उन्हें यह महसूस होता है कि रोजी-रोटी चाहे मिले या न मिले लेकिन समाज की सेवा करने का मौका मिलेगा। हिन्दी के पत्रकारों की यह ऐतिहासिक भूमिका रही है। यह भूमिका धीरे-धीरे परम्परा बन गयी और लोग इससे जुड़ते चले गये। जन-जीवन में इस परम्परा की गहरी पैठ है।

हिन्दी अखबारों के पत्रकारों को यह धरोहर के रूप में मिला है। वर्तमान में इस धरोहर की रक्षा करने का सवाल सामने आया है। इसलिए हिन्दी अखबार के पत्रकार भी इस काम में पूरी तैयारी से जुटे नजर आते हैं। कम मजदूरी पर काम करने के पीछे यही एक मात्र कारण होता है कि देश की सेवा निजी सुख-सुविधा से बड़ी चीज है। इस बड़ी चीज को ध्यान में रखते हुए हिन्दी अखबार वाले काम करते हैं। उधर हिन्दी अखबारों के मालिकों को यह सुविधा मिल जाती है कि वे मजदूरी बचाने में कामयाब हो जाते हैं। मजदूरी मार कर उद्योग चलाने का जो सिद्धांत है, उस सिद्धांत का पूरा-पूरा निर्वाह हिन्दी अखबार निकालने के लिए किया जाता है।

इसी तरह चैनल में कार्यरत मीडिया साथियों को भी अन्य भाषाओं के चैनल में कार्यरत मीडिया साथियों की तुलना में कम पैसे दिये जाते हैं।

विगत पांच-सात सालों से यह भी देखा जा रहा है कि जो हिन्दी अखबारों में काम नहीं करना चाहते हैं, उन्हें भी जोर-जबर्दस्ती ढंग से काम कराया जाता है। काम करते-करते उन्हें प्रशिक्षण दिया जाता है। उस प्रशिक्षण से कोई कारगर काम नहीं होता है, क्योंकि प्रशिक्षण एक समय-सीमा तक कारगर होता है और उसके बाद वह प्रशिक्षण अप्रासंगिक हो जाता है। जिस तरह प्रौद्योगिकी पुरानी हो जाती है, ठीक उसी तरह प्रशिक्षण भी पुराना पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में नये तरीके से प्रशिक्षण और नयी प्रौद्योगिकी की जरूरत पड़ती है। नये प्रशिक्षित व्यक्तियों से अधिक समय तक काम लेना कठिन होता है। यही स्थिति नयी प्रौद्योगिकी के संदर्भ में होती है। मालिक इन दोनों के बीच समन्वय बैठाना अच्छी तरह जानते हैं। उन मालिकों को एक नयी सुविधा यह है कि हिन्दी पाठक भी भोले-भाले होते हैं। उनकी समरसता हमेशा मालिकों के साथ बनी रहती है। यदि अखबार खराब भी निकलता है, तो हिन्दी पाठक ज्यादा नाराज नहीं होते हैं। अधिक–से–अधिक संपादक महोदय को एक-दो शब्द या अपशब्द कह दिया जाता है। हिन्दी पाठक हमेशा अखबार के साथ बने रहते हैं।

संपादकीय सीमाओं को पाठक अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए वे संपादकीय-सीमाओं पर ज्यादा प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते हैं। अखबार अपने मेरिट से चलता है। इस मेरिट को बेहतर बनाने के लिए कंटेंट पर ज्यादा जोर दिया जाता है। सम्पादक अपनी दृष्टि कंटेंट से तय करते हैं। हिन्दी अखबारों के सम्पादक अपनी टीम की बदौलत अखबार निकालते हैं। इस टीम को कभी-कभी आर्थिक गतिविधियों से जोड़ दिया जाता है तथा टीम भी खुशी-खुशी इस काम से जुड़ जाती है। वस्तुत: हिन्दी समाज में काम करने वाले लोगों को आंखों का तारा कहा जाता है। सहयोग की भावना पर इस क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्यक्रम होते रहते हैं। इससे भी अखबारों को लाभ होता है। इस तरह की लाखों सुविधाओं के बावजूद कई तरह की

कठिनाइयां भी हैं, जिन कठिनाइयों को सामने रखते हुए हिन्दी अखबार कार्यरत हैं। उन बाधा-विपत्तियों का कड़ा मुकाबला करते हुए अखबार अपनी जगह बना लेता है।

हिन्दी क्षेत्रों में लोगों की यह उम्मीद होती है कि सारी समस्याओं का समाधान अखबारों से किया जाय। इसलिए आम पाठक सीधे-सीधे अखबारों से जुड़ जाते हैं। हिन्दी समाज यह उम्मीद लगाता है कि किसी तरह काम हो जाय। इसके लिए वह कार्यरत दिखता है। हिन्दी मीडिया ने बार-बार यह साबित किया है कि सामाजिक अपराध को रोकने का काम शासन-प्रशासन नहीं करता है, वह कार्य की सम्पन्नता का प्रमाण-पत्र लेने का काम करता है। सच तो यह है कि राज दरबार गलतियों पर जगमगाता है और राजा बार-बार गलती को दुहराता है। इसलिए कि उसके सिर का बोझा किसी दूसरे के सिर पर रहता है। मुकुट बोझ वहन नहीं करता है। मुकुट के वजन से वह वैसे ही भारी रहता है। राज दरबार अब रहा कहां? अब तो सिंहासन पर बैठने वाले जनता दरबार लगाते हैं और मकर संक्रांति के मौके पर कम्बल बांटते हैं, खिचड़ी खिलाते हैं और होली के मौके पर जोगिड़ा गाते हैं। मीडिया बड़ी प्रमुखता से इस तरह की खबरों को परोसता है। भला क्यों न परोसे? क्या मीडियाकर्मी को ठंड नहीं लगती है, क्या उन्हें खिचड़ी का स्वाद पसंद नहीं है? हाय रे तेरा जनता-दरबार! तुम्हें हो बार-बार मुबारक!!

मीडिया ने छद्मवेशियों पर प्रहार करते हुए यह स्थापित किया है कि टका-संस्कृति में गोता लगाने से क्या मजा आ रहा है, लगाते रहें गोता और देखते रहें अपनी माताओं -बहनों को बेआबरू होते। 'महाभारत' महाकाव्य ने भी पांचाली के बे-आबरू होने का करुण दृश्य दिखाया, जो वाल्मीकि द्वारा देखे गये करुण-दृश्य से भी अधिक करुण था। वाल्मीकि ने पक्षी मारने वाले उस शिकारी से एक ही सवाल किया था कि क्यों मार दिये; रे? उनकी यह जिज्ञासा श्लोक बन गयी और वाल्मीकि श्लोक के निर्माता बन गये; आदि कवि कहलाने लगे। उस अंधे धृतराष्ट्र की भरी सभा में उपस्थित एक से बढ़कर एक वीर्यवान-बुद्धिमान के मुंह से एक शब्द नहीं निकला कि आखिर दुर्योधन की इच्छा पूरी होनी जरूरी है या कुलवधू की इज्जत की रक्षा।

सुदर्शन चक्र लिये कृष्ण दौड़े-दौड़े आ गये, लेकिन उनके मुंह से भी एक शब्द नहीं निकला। कृष्णा की लाज बच गयी हो, पर किसी नीतिवान ने किसी नीति की व्याख्या नहीं की। इसी दिन कृष्ण को गीता का ज्ञान देना चाहिए था, पर उन्हें भी भीड़ पसंद थी, खुले आसमान के नीचे क्षोहिणियों के बीच बोलने में उन्हें भी आह्लाद मिल रहा था। भला इस आनंद विभोर होने के क्षण को एक औरत की लाज बचाने के लिए क्यों क्षरित किया जाता है। महाकाव्य नामक सामुद्रिक विधा में जब मगरमच्छ की तरह मिथक सिर उठाये नजर आता है, तब जीवन की वास्तविकता वैसे ही गायब हो जाती है, जैसे शीतलहरी के समय प्रचंड तेजवान सूर्य गायब हो जाता है। यही कारण है कि मीडिया की नजर से बचाने की कोशिश की जाती है। ऐसी स्थिति में करोड़ों रुपये की झोपड़ी में रहने वाले छद्म साहित्य सेवियों पर मीडिया की नजर जाना जरूरी है।

जब-जब किसी राज दरबार के सामने माता-बहनों की इज्जत बचाने और मौज-मस्ती करते हुए अट्टहास करने में से किसी एक को चुनने की बारी आती है, तो राज दरबार मौज-मस्ती करने को चुनता है। किसी समय में राज दरबार को न तो गरीबों के पक्ष में खड़ा होते देखा गया है और न ही मां-बहनों की सुरक्षा के सवाल पर सक्रिय देखा गया है। यह सब तो राज दरबार के लिए एक छोटी घटना है या बनावटी घटना है। खुद जो छोटा और ओछा काम करता है, वह दूसरों को भी उसी तरह से देखता है। यही कारण है कि हर राज दरबार किसी न किसी रूप में किसी न किसी ओछी या छोटी घटना का शिकार हो जाता है। इतिहास उसकी कहानी को अपने पन्नों पर सुरक्षित रखता है। यदि कोई इतिहास-पुरुष बनने की ललक रखता है, तो उन पन्नों को टटोले और उन पन्नों पर अंकित या टंकित शब्दों से रोशनी ले तथा संघर्ष के मैदान में कूद पड़े। मीडिया इतिहास में गोता नहीं लगाता है, वह टका-संस्कृति में गोता लगाना पसंद करता है। इसलिए वह संघर्ष के मैदान को नकारते हुए एक बनावटी सूचनात्मक-सजावटी 'पार्क' बनाता है, जिसके दृश्य को वह बार-बार दिखाता है।

जिसने आज तक संघर्ष के मैदान को अपने जीवन के लिए अहम् चुन लिया है, उसने इतिहास के पन्नों पर अपना स्थान सुरक्षित रखा है। इन्हीं पन्नों से दर्शन और साहित्य को सजाने का काम रचनाशील व्यक्तियों ने सम्पन्न किया है। वर्तमान समय में मीडियाकर्मियों ने भी इसी रचनाशीलता को बढ़ाने का प्रयास किया है। मीडियाकर्मियों ने अपने शब्दों में वह ताकत भरने की कोशिशें की हैं, जिस ताकत के बल पर गम को समाप्त करना संभव हो सकता है। दुनिया में चाहे किसी का गम किसी कारणवश हो, लेकिन उसके गम में शामिल होना बड़ी बात है। इस बात को वही स्वीकार सकता है, जो गम के स्वाद को चखता है। गम लोगों को देता है। और उसकी दी हुई वस्तु एक दृष्टि है, यह दृष्टि समझ पैदा करती है, जिसके चलते समस्याओं को समझता है तथा उसके अनुसार कदम उठाता है। इन उठाये गये कदमों को राह बनाने की जरूरत नहीं होती है। इन कदमों में इतना साहस होता है कि वह साहस बिना धागे अपनी किश्ती को साहिल पर खींच लेता है। यही साहित्य है। रचना कर्म ही सृजन का मूलमंत्र है। मीडिया इसी मूलमंत्र को लेकर आगे बढ़ता है, जिसे कोई मीडिया पर कारपोरेट वित्तीय पूंजी का वर्चस्व कह सकता है। हिन्दी पत्रकारिता हर हाल में वित्तीय पूंजी को धक्का देगी।

सिंहासन पर साहित्य और संस्कृति

साहित्य और संस्कृति के बिना समाज आगे नहीं बढ़ पाता है। ऐसी स्थिति में मीडियाकर्मी यही चाहते हैं कि सिंहासन पर साहित्य और संस्कृति किसी तरह विराजमान हो। सिंहासन पर विराजमान ताकत इतनी नहीं होती कि वह दो मिनट के लिए सूरज को बांध दे, लेकिन एक मानव को मानव बनाने की समझ इसी रचनाकर्म से मिलती है, जिसकी बदौलत मानव समाज जिंदा है और जिंदा रहने की लड़ाई लड़ता है। मीडिया भी सूचना को मूल मंत्र मानता

है और उसी बल पर वह जिंदा है, हालांकि धनवान उसके पीछे खड़े दिखते हैं। लेकिन कभी-कभी यह भी दिखता है कि अफरात धन के बावजूद कुछ मीडिया संस्थाएं दम तोड़ देती हैं। दम तोड़ते इस दृश्य को देखकर मीडियाकर्मी गीत गाते हैं, जो रचना के जरिये ही प्रस्तुत होते हैं।

उल्लेखनीय यह है कि सत्ता को बनाने और बिगाड़ने में मीडिया ने जिस तरह भूमिका अदा की है, ठीक उसी तरह संस्कृति को नये रूप-नये रंग में स्थापित करने का प्रयास किया है। दरअसल नयी सत्ता स्थापित होते ही एक नयी संस्कृति उत्पन्न होने लगती है, जो धीरे-धीरे पुरानी संस्कृति पर हावी होती नजर आती है। समय गुजरते-गुजरते वह उस पर हावी हो जाती है। दोनों संस्कृतियों के बीच द्वन्द्व उत्पन्न होने लगता है। इस द्वन्द्व से तीसरी तरह की संस्कृति पैदा होती है, जो काफी ऊर्जावान होती है। यह संस्कृति एक नयी सत्ता स्थापित करने की मुहिम शुरू करती है। इस बिन्दु पर आकर मीडिया भी अपना रूप-रंग बदलता है। इन तीनों की विकासात्मक प्रक्रिया को समझे बिना मीडिया के क्रिया-कलापों का सांगोपांग विश्लेषण असंभव है।

इस असंभव कार्य का सम्पादन करने के लिए हर विषम परिस्थिति का विश्लेषण करना तथा उस विश्लेषण के अनुरूप जोरदार हस्तक्षेप करना जरूरी होता है। इस हस्तक्षेप के लिए न शिक्षण की जरूरत होती है और न प्रशिक्षण की। इस कार्य को अंजाम देने से समाज की गति जारी रहती है। दरअसल इसी गति से आगे बढ़ने का कार्य चलता है। यह गति किस चक्के पर निर्भर है, कोई नहीं जानता है। चक्के के घूमने से गति का पता चलता है या चक्के के पीछे होने से गति को समझने का मौका मिलता है या दिन-रात होने या सूर्य के उगने या डूबने से गति का अंदाज लगता है। गति का इतिहास भी गजब है। पदार्थ विज्ञान भी इसके अंतिम रूप को देखना चाहता है। इसके लिए वह परेड करता है, लेकिन कुछ कह नहीं पा रहा है। तर्क है, लेकिन कमजोर तर्क उसके पास है। हिन्दी अखबारों-चैनलों में अर्द्ध सत्य को रेखांकित किया जाता है लेकिन सच के लिए जमीन नहीं तैयार की जाती है। इस जमीन को और ऊर्वर बनाने की आवश्यकता है। इसी गति से समाज भी जुड़ा होता है, जो काल को नियंत्रित करने का काम करता है।

मीडिया की तरह समाज कभी भी काल को अपने-आप पर हावी नहीं होने देता है। जो समाज काल का गुलाम बन जाता है वह समाज पिछड़ जाता है ; ठीक उसी तरह जो हंसा, वह फंसा। पर हंसी को कौन रोकेगा। जिन्दगी तो हंसी का ही एक पर्याय मात्र है। किसका जीवन अच्छा है। इस काल के प्रवाह में हर- कोई गोता लगाता है। गोता तो शब्दकोश का सम्मानजनक शब्द है, सही मायने में वह ऊब-डूब का शिकार है। कौन कहेगा कि ऊब- डूब खाने वाले कब तक जीवन रूपी नदी में ऊब-डूब खाते नजर आयेंगे। अनुभव यही बताता है कि ऊब-डूब खाने वाले को डूबना ही है। डूब ही उसकी जिन्दगी का निष्कर्ष है। मीडिया के लिए उस निष्कर्ष का कोई महत्व नहीं है, इतिहास भी डूबने वालों की सूची तैयार नहीं करता है। सही मायने में यह मायालोक का एक छोटा अदना दृश्य है। अपने पिछड़ेपन को दूर करने के लिए समाज को लड़ना पड़ता है, जिस लड़ाई में सदियों का गुजरना स्वाभाविक है। सही अर्थों में यही लड़ाई समाज का विकास है। इस विकास में मीडिया की सक्रियता देखने लायक होती है और उस सक्रियता के दौरान मीडिया विभिन्न तरह की सत्ताओं और संस्कृतियों को बनाने या बिगाड़ने के खेल में खुद को शामिल करता है।

मीडिया के क्रिया-कलापों के जरिये ही समाज सत्ता के रंग-ढंग को देखता है तथा संस्कृति का स्वाद चखता है। इस तरह से देखने और स्वाद चखने से मीडिया को हर चीज को स्पर्श करने का साहस मिलता है। समाज इस अहसास को अपनी स्पर्शता समझता है। इसके लिए मीडिया को अपना अस्तित्व कायम करना पड़ता है। सत्तासीन व्यक्ति उसे अस्तित्व बचाने की खुराक मुहैया करते हैं, जिसका नाम विज्ञापन है, जहाँ लेने वाले और देने वाले एक बिन्दु पर खड़े होकर किसी तीसरी चीज पर अपनी नजर टिकाये रहते हैं। उन दोनों का मकसद यही होता है कि किसी तरह दर्शकों-पाठकों को अपनी ओर खींचें।

दर्शकों-पाठकों को मीडिया, सत्ता और संस्कृति अपने-अपने उद्देश्यों से प्रभावित करने के लिए उत्सुकता का खेल शुरू करते हैं। इस खेल का अंत कब और कैसे होता है, कहना मुश्किल है, पर इस खेल को

इतिहास अपनी वाणी में समेटने की कोशिश करता है। इसलिए कि इतिहास ही समाज की नब्ज है। इस नब्ज पर हाथ रखने के लिए दर्शक-पाठक उत्सुक दिखते हैं। पर वैश्वीकरण-युग के शुरुआती दौर में इस पर प्रश्न-चिह्न उठाया गया है। इस प्रश्न का जवाब दिया गया है, लेकिन जिज्ञासा करने वालों को उस जवाब से संतुष्टि नहीं मिलती है। संतुष्टि मिलेगी भी नहीं, क्योंकि वैश्वीकरण ने असंतोष को विस्तार प्रदान किया है और संतोष को सिमटने का काम किया है। इन दोनों के बीच द्वंद्व भी आरंभ हुआ है। उस द्वंद्व ने सामाजिक-सांस्कृतिक गुत्थम-गुत्था को जन्म दिया है। इसके चलते विभिन्न तरह की सामाजिक विषमताएं पैदा हुई हैं। मीडियाकर्मियों ने कभी स्वत: तो कभी किसी के कहने पर विषमताओं का रस निकालने की कोशिश की है। इस कोशिश के चलते क्या उस 'रस' की कीमत बढ़ जाती है या महंगाई के चलते दाम बढ़ गया है। मीडिया बताता है कि हर पण्य का दाम बढ़ रहा है, पर जीवन-मूल्य क्यों घट रहा है, इसका उत्तर मीडिया नहीं दे रहा है। वह यह उत्तर देगा भी नहीं, क्योंकि उत्तर देने से सच सामने आयेगा, नीति निर्धारकों का पर्दाफाश हो जायेगा। पर्दाफाश करने का गुण भी मीडिया धीरे-धीरे खोने जा रहा है।

उल्लेखनीय है कि मीडिया की रचनाशीलता सिंहासन पर साहित्य और संस्कृति को बैठाने की लड़ाई लड़ता है। पर कोई इस सच को मानता कहां है ?आज सबसे बड़ा संकट वित्तीय पूंजी का है। इसके चलते सिंहासन पर साहित्य और संस्कृति विराज नहीं पा रहे हैं।दरअसल वित्तीय पूंजी की रासलीला भारत की धरती पर इस कदर चल रही है, जिसके सम्बन्ध में जितना कहा जाय, उतना कम है। इस पूंजी ने भारतीय राजनीति को अपनी गिरफ्त में ले लिया है। यही कारण है कि भारतीय राजनीति सोचती कुछ है और करती कुछ और है। देश में ऐसे बहुत मर्मज्ञ है, जिन्होंने इस पूंजी की निंदा की है, लेकिन इसके बिना उनका काम नहीं चलता है। बाजार को जब विनियंत्रित करने का सवाल सामने आया, तब लोगों ने इसका विरोध किया । लेकिन देखते-देखते बाजार विनियंत्रित हो चुका। इसके परिणाम आम आदमी की इच्छा के विरुद्ध गये। आम आदमी ने उसे बर्दाश्त किया। गरीब-

मेहनतकश-उत्पीड़ित लोगों के पास बर्दाश्त करने और ब्रेकिंग न्यूज देखने के अलावा उपाय ही क्या है। ब्रेकिंग न्यूज की अवधारणा यही रही है कि समुद्र के तट पर बैठकर गिनते रहो लहरों को, न जाने कौन-सी लहर चांद के आने की खबर दे दे। चांद के लिए जो प्रतीक्षा करते हैं, उनके लिए यह काम आसान हो सकता है। पर जिन्हें चांद के आने या नहीं आने का गम नहीं है, उनके लिए क्या किया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यही है कि ब्रेकिंग न्यूज अब पुरानी हो चुकी है।

टेलीविजन के दर्शक अब खबरों के हिचकोले नहीं खाना चाहते हैं। इन हिचकोलों से दर्शकों को बचाने की जरूरत है। पर वित्तीय पूंजी ने इन हिचकोलों को बढ़ाया है। वित्तीय पूंजी अपने पैतरों के जरिये समाज के सभी हिस्से के लोगों को आत्म समर्पण कराने की कोशिश करती है। पूंजी की असली ताकत इसी वित्तीय पूंजी में दिखती है, जो सीधे-सीधे किसी देश की संचित पूंजी को हड़पने लगती है। खदानों से लेकर जंगलों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हो रहे कब्जों को इसी सिलसिले में देखना उचित होगा, तभी जाकर जनमत का आधार दुरुस्त हो सकता है। इस आधार को जितना मजबूत करना चाहिए, उतना ही उसे कम किया जा रहा है। यदि समाज में जनतंत्र कमजोर होता है; तो यही समझना चाहिए कि वित्तीय पूंजी का प्रभाव बढ़ रहा है। जिन देशों में वित्तीय पूंजी का नंगा नाच दिखा वहां सिर्फ जनतंत्र ही कमजोर नहीं हुआ बल्कि उस देश की आर्थिक स्थिति बदतर हो गयी। इस सम्बन्ध में भारतीय मीडिया मुंह नहीं खोलता है।

आजादी के दरम्यान जहां विचार की प्रमुखता थी, वहां आज विचार को खत्म करने का चौतरफा खेल चल रहा है। इस भयावह काल में मीडिया अपने कर्त्तव्य को लेकर आगे बढ़ रहा है, यह कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस महत्वपूर्ण काम को मीडियाकर्मी अपनी समझदारी के अनुसार कर रहे हैं। भारतीय मीडिया की गरिमा मीडियाकर्मी के कंधे पर टिकी हुई है। उनके इस अभियान को बड़े पैमाने पर आगे बढ़ाने के लिए पूरी कर्त्तव्यनिष्ठा की जरूरत है। इस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए मीडिया एक निश्चित खोज में एक नयी

दिशा की ओर अपना कदम बढ़ाता है। संघर्ष ही उसकी सफलता की गारंटी है। भारतीय मीडिया इस कर्त्तव्य को बड़े फलक पर स्थापित करता है, तभी तो उसकी गतिशीलता कायम है। गति के बिना जीवन कहाँ है, इसलिए मीडियाकर्मी कल पर कम, आज पर भरोसा ज्यादा करते हैं। इस भरोसे को देखने से पता चलता है कि सिंहासन पर साहित्य और संस्कृति सदा विद्यमान रहेगी।

गुणवत्ता की दृष्टि से देखने पर यही कहना पड़ता है कि इस दुनिया में एक से बढ़कर एक अखबार हैं और एक से बढ़कर एक चैनल हैं। इस दुनिया में यदि कुछ है, तो वह मीडिया है। इसके रूप हैं और इसके पास हैं रंग। रूप और रंग प्रायः सभी वास्तविक वस्तुओं के पास होते हैं। लेकिन मीडिया के रूप और रंग गतिमान हैं। भाषा उन दोनों की गति को बनाये रखती है। भाषा न्यूट्रल होती है। भाषा नेचुरल होती है और भाषा नोर्मल होती है। मीडिया ने अपने लिए जिस भाषा को चुना है, उस भाषा में इन तीनों प्रवृत्तियों का अवलोकन किया जा सकता है।अभिव्यक्ति का जरिया भाषा हो सकती है। लेकिन इन तीनों प्रवृत्तियों के बिना भाषा असरदार नहीं होती है। भाषा जब तक असरदार नहीं होगी, तब तक मीडिया का प्रवाह बरकरार नहीं होता है। अपने प्रभाव को प्रस्तुत करने में भाषा की तटस्थता पर सबसे अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

वही भाषा तटस्थ हो सकती है, जिस भाषा में मानवीय मूल्यों की रक्षा करने तथा उन मूल्यों को जन-जीवन से जोड़ने की क्षमता हो। इस क्षमता को कायम करने के उद्देश्य से भाषा का कायाकल्प करने पर जोर देने की प्रवृत्ति रही है। इस प्रवृत्ति को कारगर बनाने के लिए क्रिया के प्रयोग पर सबसे अधिक बल दिया जाता है। क्रिया के प्रयोग के बिना भाषा सहज और सुन्दर नहीं हो पाती है। दरअसल क्रियात्मक प्रयोग भाषा के अन्दर एक तरह

से सेल डिविजन की प्रक्रिया है, जिस पर भाषा की जीवंतता निर्भर करती है। यह प्रक्रिया ज्ञान के जरिये नहीं पूरी होती है। इसके लिए अभ्यास की जरूरत पड़ती है। भाषा सतत् अभ्यास की शानदार सफलता है। महान रचनाकारों की भाषा इसलिए जीवंत होती है। सतत् अभ्यास की उपज तटस्थ भाषा होती है। इस तटस्थता का अर्थ भाषिक संरचना है। यदि भाषा तटस्थ होती है, तो वह सहजता के साथ उपस्थित होती है। उसमें बनावटीपन नहीं दिखता है। इस गुण को मीडियाकर्मी अपनाते हैं।

आजादी की लड़ाई के दरम्यान हिन्दी पत्रकारिता की भाषा में इस गुण का दर्शन किया जा सकता है। वर्तमान में जिन पत्र-पत्रिकाओं की भाषा तटस्थ दिख रही है; उन्हीं पत्र-पत्रिकाओं का असर दिखता है। उनके इर्द-गिर्द लेखकों की उपस्थिति भारी संख्या में दिखती है। तटस्थ-भाषा को खारिज करने का डर रहता है। जिन्हें मीडिया से खुजली है, वे आनन-फानन में मीडिया की भाषा पर प्रश्न-चिह्न खड़ा करते हैं। इस प्रश्न-चिह्न के अन्तर्गत जिज्ञासा या विकल्प पैदा करने की क्षमता नहीं होती है। इस प्रश्न-चिह्न का उत्स ईर्ष्या होती है। मानव की प्रवृत्तियों में अधोगामी प्रवृत्ति के रूप में ईर्ष्या को देखा जाता है। वर्तमान समय में वैश्वीकरण के चलते ईर्ष्या का विकृत रूप भी सामने आया है, जो समाज के लिए सबसे खतरनाक है। ईर्ष्या रूपी प्रवृत्ति से मानव समाज को सिर्फ नुकसान ही नुकसान हुआ है। यह नकारात्मक प्रवृत्ति है। नकारात्मक प्रवृत्ति को मीडिया ने इन दिनों काफी उछाला है। गति सकारात्मक प्रवृत्ति से होती है। इस प्रवृत्ति को जीवन पर्यन्त बनाये रखना मुश्किल काम है। इसे अंजाम देने के लिए भाषा को तटस्थ बनाना आवश्यक है।

मीडिया में जो भाषा प्रयुक्त हो रही है, उसे तटस्थ बनाने के लिए मीडियाकर्मी संघर्षरत दिखते हैं। इस तटस्थता को आधारित करने के लिए मीडियाकर्मी भाषा को हमेशा नोर्मल बनाने की कोशिश करते हैं। भाषा के एवनोर्मल होते ही प्रभाव नहीं रहता है। ऊँची आवाज भाषा को बर्बाद करती है और मंद आवाज भाषा के लिए खतरनाक है। भाषा की गूंज नोर्मलिटी पर निर्भर करती है, भाषा की स्पष्टता की पहचान यही है। इसका सम्बन्ध विचार

और दर्शन के महत्वपूर्ण पहलुओं से होता है। नया-नया आयाम भाषा के जरिये इस गुण के चलते दिखता है। खबरों में आयाम का महत्व होता है। कोई भी खबर अपने कोन के कारण असरदार होती है। इस कोन को नये आयाम की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति भाषा की नोर्मलिटी करती है। मीडिया में भाषा को इसलिए नोर्मल बनाया जाता है, ताकि दर्शक-मीडियाकर्मी के बीच एक बेहतरीन सम्बन्ध स्थापित हो सके। मीडियाकर्मी खबरों के उत्स को भाषा के नोर्मल रखने के जरिये बचाने की कोशिश करते हैं।

भाषा को खबरों में नोर्मल बनाये रखना जटिल प्रक्रिया से गुजरना है, क्योंकि खबरों में जो विचार या दर्शन झलकता है,उसका आगमन इसी द्वार से होता है। जिस तरह द्वारपाल की उपस्थिति राजदरबार की शोभा है; उसी तरह खबरों का द्वार नोर्मलिटी है। इसका सम्बन्ध भाषा की नेचुरलिटी से होता है। भाषा जब व्याकरण के नियमों को तोड़ती है, तब वह अननेचुरल हो जाती है। कई विद्वानों ने इसे भ्रष्ट भी कहा है। भाषा तब भ्रष्ट हो जाती है, जब वह सामाजिक नैतिकता को तिलांजलि दे देती है। सूचना देने-लेने के चलते भी भाषा भ्रष्ट होती है। सोच-समझकर जब किसी रचनाकार की निंदा की जाती है, तब भाषा भ्रष्ट हो जाती है। जब तक भाषा भ्रष्ट नहीं होगी , तब तक निंदा करने के लिए भाषा उपयुक्त नहीं हो सकती है। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठाने वालों की भीड़ खड़ी दिखती है, लेकिन भाषा के भ्रष्टाचार को भाषा की अग्रगति का जामा पहनाया जाता है। इससे समाज की क्षति होती है। साधारणत: जब भाषा अपने वाक्य-विन्यास की पटरी से हट जाती है, तब वह भाषा अराजक बन जाती है तथा उकसावे की राजनीति से जुड़ जाती है। अराजक भाषा किसी कीमत पर नेचुरल नहीं रह पाती है। जब भाषा नेचुरल नहीं रह पाती है, तब उसके अनेक अवयवों का क्षरण होने लगता है।

मीडियाकर्मी क्षरित भाषा को अपनी खबरों की संरचना में स्थान नहीं देते हैं। व्याकरण के नियमों के साथ-साथ शब्द-विन्यास, वाक्य-विन्यास और भाव-विन्यास पर खबरों पर गंभीरता से ध्यान दिया जाता है।

इस गंभीरता का सम्बन्ध भाषा की प्रकृत्ति से होता है। एक खबर में यदि चाटुकारिता के तत्वों को स्थान दिया जायेगा, तब वह खबर अपने ठोस रूप में लोगों के सामने नहीं आ पाती है। खबर बनाने से पहले भाषा को साधने की जरूरत होती है। कागज भरने से खबर अपनी भाषिक पहचान खो देती है। इस पहचान को बनाने के लिए भाषा को नोर्मल, नेचुरल और न्यूटरल बनाने का अभ्यास करना पड़ता है। यह अभ्यास एक-दो दिनों में नहीं पूरा होता है। इसका कोई पाठ्य-क्रम भी उपलब्ध नहीं है। यदि कोई कहता है कि नहीं, पाठ्य-क्रम को पूरा करने से भाषा नोर्मल बन जाती है, तो यही कहना पड़ेगा कि हां, गुड नाइट जलाने से मच्छर भाग जाता है। मीडियाकर्मी गुड नाइट जलाकर मच्छर भगाने का काम नहीं करते हैं, उन्हें तो शेर का शिकार करना पड़ता है, इसलिए मीडियाकर्मी की भाषा नेचुरल-न्यूटरल-नोर्मल होती है। मीडिया विशेषज्ञों के तर्क को बुझी राख से ढकना असंभव है, क्योंकि हवा के झोंके के आने की देरी है। झोंके के आते ही राख उड़ जाती है। और समाज जैसा का तैसा अपने रंग में बना रहता है। इस रूप-रंग को बचाने के लिए जनविरोधी नीतियों का विरोध अत्यावश्यक है।

यह सच है कि समाज का एक बड़ा हिस्सा लालच के घेरे में फंस गया है। इस घेरे से पूरे समाज को बाहर निकालने के लिए सामने आने के बदले कन्नी काटने की राह अपनाते हुए असंख्य लोगों को देखा जाता है। इस वजह से सामाजिक स्नेह पर खतरा मंडराने लगता है। इन दिनों मीडिया ने सामाजिक प्यार को धोखे के घेरे में रखते हुए धूर्तों को कामयाब सिद्ध करने प्रयास किया है। इस सिद्ध करने से चाहे जो हो, पर इतना सच है कि समाज में अपराध बढ़ा है। जन-विरोधी नीतियों को अपनाने के चलते अपराध बढ़ते हैं। अपराधियों का बोलबाला बढ़ता जा रहा है। वर्तमान में बढ़ते अपराध के असंख्य कारण है, उन असंख्य कारणों में एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र में लगातार परिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तन को मीडिया पहचानने का प्रयास करता है; लेकिन उसका यह प्रयास आगे नहीं निकल पाता है। कई तरह की खामियां दिखने लगती हैं, उन खामियों को पाटने के लिए लोग क्या-क्या करने लगते हैं; लेकिन एक भी रास्ता नहीं

दिखता है। और जब रास्ता नहीं दिखता है, तब मीडिया प्रस्तुत करता है कि इधर से रास्ता निकल सकता है।

कभी-कभी लहू को भी पानी के भाव बेच दिया जाता है। इस भाव से बेचने पर खरीददारों की भीड़ जमा हो जाती है। भीड़ की समझ भी अपने किस्म की होती है। इसकी पड़ताल में मीडियाकर्मी सुपारी देने तक की यात्रा कर लेता है। मीडिया का यह उद्यम सराहनीय है। इस तरह के सराहनीय कार्यों को अंजाम देने के लिए मीडियाकर्मियों को आगे आना होगा। इसकी जरूरत है। संस्थागत अनुशासन से ऊपर उठकर सामाजिक अनुशासन को स्थापित करने के लिए संघर्ष करना होगा। इस संघर्ष की परिधि बढ़ाने की जब-जब चेष्टा की जाती है तब-तब कि मीडियाकर्मी खुद को अकेले महसूस करते हैं। कहने के लिए उनके लाख संगठन हों, लेकिन उनके उद्देश्यों पर विचार करने से वह जानकारी मिलती है, जिसके सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि मीडियाकर्मी पूरी तरह से अपनी सामाजिक भूमिका से कटे होते हैं। दरअसल यह सच पर पर्दा डालने का तरीका है। बाजार को समाज के हित में प्रयुक्त करने के लिए जिस रास्ते को अपनाया जाता है; उस रास्ते की वजह से जन विरोधी नीतियों को ताकत मिलती है।

२. असल खबरों की पहचान

खबरों के पाठकों की संख्या सबसे अधिक होती है। समाज के विभिन्न स्तरों के लोग खबरों से किसी न किसी रूप में जुड़ते हैं। इसी जुड़ाव से खबरों की असल पहचान स्थापित होती है। खबरों की दुनिया में आम आदमी की खबरें चाहे न हों, पर खबरों की दिशाएं आम लोग ही निर्धारित करते हैं। आदमीयत की गंध अभी भी खबरों में विद्यमान है। वैसे इसे हटाने की कोशिशें जारी हैं। खबरों पर बाजार हावी है। बाजार और बाजारवाद के बिना खबरों का आगे बढ़ना मुश्किल है। इसका अर्थ कदापि यह नहीं है कि खबरों पर बाजार का नियंत्रण है। खबरों के जरिये बाजार जिंदा है। यदि बाजारवाद ही हर बीमारी का उत्स है, तो यह देखना चाहिए कि बाजारवाद का क्या उत्स है। जब तक इस उत्स को खत्म नहीं किया जाता है, तब तक बाजारवाद का खात्मा नहीं है। विकल्प प्रस्तुत किये बिना किसी चीज का विरोध व्यर्थ है। मीडिया वर्तमान समय में काल्पनिक विकल्प प्रस्तुत करना चाहता है। काल्पनिक दुनिया रचने से विभेद का दायरा बढ़ता है। समाज के लिए यह पूरी तरह अहितकर है। इस अहित को खत्म कर एक अच्छी दुनिया बनायी जा सकती है। मीडिया इसके लिए कोशिश करता है, चाहे वह किसी के द्वारा क्यों न नियंत्रित हो। नियंत्रण को खत्म करने के लिए विकल्प को जन्म देना पड़ता

है। साहित्य-संस्कृति के अध्ययन के बिना विकल्प को प्रस्तुत करना कठिन है।

इतिहास-धारा में विकल्प का महत्व सर्वविदित है। समय के साथ-साथ इतिहस-धारा का निर्माण होता है, चाहे उसका मूल्यांकन जब भी हो। इतिहास अपने मूल्यांकन के लिए इंतजार नहीं करता है। सही अर्थों में वर्तमान की समीक्षा अतीत को सामने रखकर करना ही इतिहास का वास्तविक मूल्यांकन है, क्योंकि इतिहास दो वर्गों के द्वन्द्वों की गाथा है। इस गाथा के अध्ययन-मनन से वर्तमान को शिक्षा मिलती है। यही कारण है कि इतिहास का कभी अंत नहीं होता है। वैसे कहने के लिए यही कहा जाता है कि इतिहास खत्म हो गया। यदि इतिहास खत्म होता है, तो यही समझना चाहिए कि वर्तमान को समझने की प्रक्रिया खत्म हो गयी। और वर्तमान को समझे बिना हस्तक्षेप करने की सूझबूझ नहीं आती है। वर्तमान की दिशा को उचित विजन देने के लिए घटनाक्रमों का सही मूल्यांकन करने की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति युग-युग से संचार माध्यम ही करता रहा है।

मीडिया कर्मियों के योगदान को महत्व देना वर्चस्वशाली प्रभुओं के लिए कठिन है। इसके बावजूद खबरों की दुनिया आम आदमी पर निर्भर करती है। वर्तमान में आदमीयत की नयी परिभाषा गढ़ी गयी है। इस परिभाषा के जरिये आम आदमी की प्रवृत्ति को बदलने की कोशिशें की गयी हैं। प्रवृत्तियों को बदलने से सारी चीजें अधूरी रह जाती हैं। पर प्रवृत्तियों की खबर बनाना आसान होता है। उदाहरणार्थ चुनावी मौसम में खबरों के चयन के विषय बदल दिये जाये हैं। कौन कठफोड़वा किस डाल से उड़कर किस डाल पर बैठता है - इस तरह के प्रश्नों को विषय बनाया जाता है, जबकि इन प्रश्नों के उत्तर बेकार हैं। यह खबर जीवन से जुड़ी नहीं होती है। यह घटना नहीं है या घटती घटना का उत्स भी नहीं है। इस तरह की चर्चाओं को हल्के-फुल्के ढंग से लोग उचित है। लेकिन समाज इन चर्चाओं को घटना समझ लेता है और जब समाज के लिए यह घटना है, तो मीडियाकर्मी के लिए

वह खबर बन जाती है। खबर बनते ही उसके पाठक बन जाते हैं पाठक के आने से प्रतिक्रियाएं आती हैं और कई तरह की क्रियाएं आरंभ हो जाती हैं।

किसी तरह से समाज को आगे बढ़ाना खबरों का मकसद होता है। खबरों के जरिये समाज आगे बढ़ता है। उसका प्रभाव इसी कार्य में झलकता है। मीडियाकर्मी इस झलक को पकड़ने का काम करते हैं। किसी घटना को शब्दों में उपस्थित करना मीडियाकर्मी के लिए सहज हो सकता है। इस सहजता को वाणी देना तथा शब्दों में उस वाणी को खोजना एक जटिल प्रक्रिया से गुजरना है, जब तक इस प्रक्रिया के बीच से गुजरा नहीं जाता है, तब तक खबरों की दुनिया बसती नहीं है। खबरों के लिए इंतजार नहीं किया जाता है। खबरें तो इस समाज रूपी महासागर में उठती लहरों के समान हैं, जिन्हें सिर्फ तट को स्पर्श करना है। खबरें भी लहरों की तरह स्पर्श करती हैं। इस स्पर्श का आनंद एक अलग किस्म का होता है। जीवन में आनंद का महत्व है। जैसे ईधन के बिना इंजन नहीं चलता है, ठीक उसी तरह इस आनंद के बिना खबरें सफर के डगर पर नहीं निकल पाती हैं।

वर्तमान में खबरों का एक पहलू आनंद बन चुका है। खासकर जब से न्यूज को मनोरंजन से जोड़ने का प्रयास किया गया है; तब से खबरों की बुनियाद में आनंद ने अपना स्थान बनाया है। दिल में जगह बनाना आसान होता है, पर किसी चीज की बुनियाद में अपने लिए स्थान सुरक्षित रखना कठिन होता है। इस कठिन कार्य को मीडियाकर्मियों ने अपने अनुभवों के आधार पर अर्जित किया है। यह कार्य जब संभव हुआ, तब खबरों की दुनिया और व्यापक हो गयी । सही अर्थों में खबरों के जरिये दुनिया की परिधि बढ़ती है। एक अवधारणा यह भी कहती है कि आखिर परिधि कहाँ तक बढ़ेगी। इसके पीछे संकीर्णतावाद का हाथ होता है।

खबर हर वक्त संकीर्णतावाद से जूझती है। मीडियाकर्मी संकीर्णतावाद का किला फतह कर खबरों को जन्म देते हैं। जिसे कहा जाता है कि खबर बनायी जाती है, सही मायने में धुप्प अंधेरे के बीच से उसे निकाला जाता है। वक्तव्य रखना या पर्दाफाश करना अपने ढंग की खबरें हो सकती हैं, पर खबर तो वह है, जहां पूरा समाज खुद को पाता हो। समाज

खुद को कहां पाता है ? यह एक बड़ा सवाल है। इस सवाल का जवाब ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक मुकाम पर पहुँचना भी खबर है। एक जिज्ञासा का अंत उसके उत्तर के साथ नहीं होता है, बल्कि उत्तर मिलने के बाद जिज्ञासाएँ बढ़ जाती हैं। बढ़ती जिज्ञासा एक तरफ बेचैन करती है, तो दूसरी तरफ स्थिरता भी प्रदान करती है। महाकाव्यों में इस तरह की जिज्ञासाओं का जिक्र हुआ है। रामायण में जब लंका में हनुमान का पदार्पण होता है, तब सभी आनंदित हैं; पर रावण उदास है। उसकी उदासी का जिक्र करते हुए खबरों का मुखड़ा बदल दिया जाता है, जैसाकि आदिकवि ने लिखा है कि आनंद का प्रकटीकरण एकटक देखना भी है। इससे भी खुशी होती है। रस के मर्मज्ञों ने इसकी चर्चाएं अपनी सीमाओं के अन्तर्गत की है।

चर्चाओं में अक्सर रहना ही खबर है। यह अवधारणा एक समय काफी प्रचलित थी। शीतयुद्ध के समय ऐसी चर्चाएं काफी तेज थीं। चुनाव के मौसम में भी यही बात लागू होती है। किसी तरह चर्चा में बने रहने से वोट ज्यादा मिल जाता है। काम कम करो, लेकिन चर्चा में ज्यादा रहो - देखते-देखते वोट की संदूक भर जायेगी। जनतंत्र का खजाना मिल जायेगा। जनतंत्र में वही सिकन्दर है, जिसकी कुल संख्या के आधे से एक अधिक हो,लोग इसे मैजिक फिगर कहते हैं। जनतंत्र का जादू भी कमाल का है। वैसे इसकी काफी निंदा होती है। बहस के जरिये रास्ता खोजने का प्रयास किया जाता है। पर किसी को यह याद है कि अमुक बहस ने अमुक रास्ता दिखाया हो। कब-कैसे भ्रष्टाचार हुआ – इसका प्रमाण सबके पास है; लेकिन बहस शुरू होने से लेकर अंत होने के बीच का प्रमाण खोजना सहज है, पर उसके निष्कर्ष को बाहर लाकर बड़े फलक पर स्थापित करना कठिन होता है। यह काम इतना कठिन होता है कि कोई इस तरफ ध्यान ही नहीं देता है। यही कारण है कि बड़ी सहजता के साथ एक खबर को प्रचार की दुनिया में फेंक दिया जाता है।

समाज में अभी यह एक भ्रम है कि प्रचार करने से खबर काफी तेज हो जाती है। खबरों के तेज होने से बदलाव शुरू हो जाता है। बदलाव की बयार किसी के घर से निकलती है; यह समय की मांग है। इस मांग को पूरा

करने के लिए समाज करवट बदलता है; चाहे उसका रंग जैसा हो, पर समाज के लिए उपकारी हो जाता है। समाज में खराब हो या बढ़िया-कुछ तो होता है, जो नहीं हो रहा था। नहीं *होना* और *होना* दोनों के बीच की दूरी जानलेवा होती है, लेकिन उस दूरी को पाटने के लिए कारगर पहलकदमी करनी पड़ती है। मीडियाकर्मी इस मामले में सदा प्रयासरत रहते हैं। उनके प्रयास को कोई नहीं सराहता है। उनकी प्रशंसा मेघ के पानी के बिना ही फूलती-फलती है। सच तो यह है कि रचनाशीलता के प्रकाश-संश्लेषण के लिए धूप-पानी-आक्सीजन की जरूरत नहीं होती है। जीव-विज्ञान के पंडित यह कहेंगे कि धूप-पानी-आक्सीजन के बिना प्रकाश संश्लेषण नहीं होता, जबकि खबरों के मर्मज्ञ अच्छी तरह समझते हैं कि *धूप–पानी-आक्सीजन* के बिना ही खबर बनायी जाती है।

पाठक विचारवान होते हैं; इसके साथ-साथ वे राजनीतिज्ञ भी, क्योंकि राजनीति को समझे बिना कोई विचार जानता नहीं है, जैसे भाषा को समझे बिना कोई शब्दकार नहीं बनता है। विमर्श की दुनिया में शब्दों के नाम पर झूठ और प्रपंच को जिस तरह स्थान दिया जाता है, सचमुच समय को यह एक धोखा देना है। चंद सवालों को खड़ा कर देने से खबरों की मंजिल नहीं मिलती है। मंजिल तक पहुँचने के लिए खबरों के पैरों में पायल बांधने की जरुरत है। पत्रकार यही चाहते है कि पायल की यह रागात्मक ध्वनि खबरों की दुनिया से निकलते हुए पाठकों के घरों तक पहुँचे। पायल की रुनझुन-रुनझुन आह्लादकारणी शक्ति को जन्म देता है; खबरों की दुनियों में धीरे-धीरे यह रुनझुन-रुनझुन मंद क्यों होती जा रही है? वर्तमान में पत्रकार यही कोशिश कर रहे है कि खबरों की रुनझुन-रुनझुन बढ़े।

ढलान पर धुआं की खबरें

समाज ढलान पर आ गया है। धुआं उठने वाला है, जिसकी खबरें चारों तरफ है। मीडिया इस तरह की खबरों को बनाने में लगा हुआ है। दर्शक

किसी अंतिम खबर की तलाश में मन मारे बैठे हैं, आखिर इस दंगल में क्या हुआ। मीडिया विशेषज्ञों के लिए सचमुच में क्या का उत्तर ही खबर है। मीडिया के प्रतिवेदनों पर नजर दौड़ाने से स्पष्ट होता है कि आज समाज में चारों तरफ हाहाकर मचा हुआ है। इसके लिए कौन जिम्मेदार है? चारों तरफ अन्याय को प्रतिष्ठित करने में शासक वर्ग की भूमिका नजर आती है। उसके खिलाफ आवाज उठाने के लिए संघर्षशील लोगों को आगे आना होगा।

प्रतिवाद-प्रतिरोध की भावना को कुंठित करने के लिए कपोल कल्पना को स्थापित किया जा रहा है। वैसे कपोल-कल्पना के जरिये महाकाव्य की रचना होती है। पर झूठ महाकाव्य की रचनाशीलता को नष्ट कर देता है। देश के कई राजनीतिक दलों ने सामंतवाद-पूंजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन को कम करने का खेल शुरू किया है। इस खेल में देश की साझा संस्कृति लहूलुहान हो चुकी है। इसके बावजूद उम्मीदें बची हुई हैं। समाज भरोसे से चलता है। उसी से उम्मीदें पैदा होती हैं। समाज में उम्मीदें हैं। लोगों का कहना है कि उम्मीदों पर दुनिया चलती है। शहरयार ने ठीक ही लिखा है-कहां तक वक्त के दरिया को हम ठहरा हुआ देखें/ये हसरत है कि इन आंखों से कुछ होता हुआ देखें।

किसी तरह खबर बनने की प्रक्रिया चले। सही मायने में साझा संस्कृति को नष्ट करने का खेल देश विरोधी शक्तियों ने आजादी की लड़ाई के दरम्यान ही शुरू कर दिया था, इसे खत्म करने का तरीका उसने ब्रितानी साम्राज्य से सीखा। ब्रितानी साम्राज्य के दलाल चाहकर भी भारत की धरती पर सामंतवाद-साम्राज्यवाद की रक्षा नहीं कर सके और आज उन्हीं दलालों के वंशज अमेरिकी साम्राज्यवाद की रक्षा करने के लिए संसद में लाठी भाजते नजर आ रहे हैं। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि भारत की धरती

सामंतवाद-पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी धरती है। इस धरती पर अन्याय-अत्याचार यदि बढ़ता है, तो उसे घटा भी दिया जाता है। उसे कम करने की क्षमता भी देखते-देखते अपना रंग दिखाने लगती है। ऐसी स्थिति में खबरों की स्थिति अत्यन्त नाजुक बन जाती है और जब स्थिति नाजुक बन जाती है, तब देखने का अन्दाज बदल जाता है। ऐसी भी चीजें देखने को मिल रही हैं कि हर हाल में खबर बने। ऐसी स्थिति में जो खबर बनती है, उस पर अहमद फ़राज की इन दो पंक्तियों की झलक मिलती है। यथा:रंजिश ही सही दिल ही दुखाने के लिए आ/आ फिर से मुझे छोड़ के जाने के लिए आ।

खबर बनाने पर मिलता क्या है, यह बात तो मीडिया को भी नहीं मालूम है। मीडिया की तरफ से खबरों का जंगल तैयार किया जाता है। यथा: खबरों का जंगल बना दिया जाता है। और उस जंगल में खबर नहीं मिलती है। कभी-कभी ऐसी स्थिति बनती है कि खबर का एक तत्व नहीं मिलता है। कैफी आज़मी ने लिखा है :-खड़ा हूँ कब से मैं चेहरों के एक जंगल में/तुम्हारे चेहरे का कुछ भी यहां नहीं मिलता दरअसल चुनाव की प्राक् परिस्थितियों का सही विश्लेषण नहीं हो पा रहा है। यदि चुनाव की प्राक् परिस्थितियों का जायजा लिया जाय, तो स्पष्ट होगा कि देश में कई राजनीतिक धाराएं अपनी सीमाओं और संभावनाओं के साथ प्रवाहित हैं। लेकिन उन धाराओं में देश के सामने एक विकल्प राजनीति को जन्म देने की सामर्थ्य नहीं है।

यदि देश की वास्तविक परिस्थितियों के विश्लेषण से यह पता चले कि बेरोजगारी-लाचारी-महंगाई ही सच है, जो सिर उठाकर नाच रही है, तो इन्हें दूर करने के सम्बन्ध में राजनीतिक दल क्या कहना चाहते हैं। सच तो यह है कि भारतीय समाज पर कारपोरेट्स घरानों का कब्जा हो गया। यह भी कहा जा सकता है कि कारपोरेट्स वर्तमान भारतीय समाज के भाग्य विधाता

बन गये हैं। अब उनकी आपसी बातें ही खबर बनती हैं। यथा: सही मायने में आपस की बातों को ही खबर बनाया जाता है, लेकिन उसे अस्वाभाविक बना दिया जाता है। किसी किस्से को अंदर रखना बड़ी बात है। यथा: परवीन शाकिर के शब्दों में –घर से निकली तो खबर बन जाएगी आपस की बात/जो भी किस्सा हो, अभी तक सहन के अंदर तो है।

देश की नीतियों को निर्धारित करने में उनकी भूमिका प्रधान हो उठी है। इस प्रधान भूमिका का विकल्प कौन प्रस्तुत करेगा। इसके साथ-साथ एक ऐसा माहौल बन गया है, जहां भ्रष्ट राजनीतिज्ञों, कामचोर नौकरशाहों तथा बेईमान व्यापारियों के बीच एक गजब किस्म का तालमेल बन गया है, जिसके चलते एक समस्या उत्पन्न हो गयी है, देश में लूट की संस्कृति को इस तालमेल ने जन्म दिया है। इसके चलते सामाजिक विषमता बढ़ने लगी। सामाजिक विषमता को कम करने की क्षमता अब राजनीति में नहीं रही है। देश की वर्तमान परिस्थितियों का उल्लेख करने पर यह दिखता है कि देश के हर क्षेत्र में उत्पादन कम हुआ है, चाहे वह कृषि का क्षेत्र हो, या उद्योग का।

परिसेवा का क्षेत्र वैसे ही पंगु बन चुका है। ऐसी स्थिति में राजनीति के जरिये विकल्प की भावना को स्थापित करना सबसे महत्वपूर्ण है। विकल्प की भावना तभी पैदा हो सकती है, जब राजनीति के वास्तविक रूप को प्रस्तुत किया जाय और जब राजनीति के स्वरूप को दबा दिया जाता है और वास्तविकता को कपोल-कल्पित भावनाओं से ढकने की कोशिश की जाती है, तब संकट पैदा होता है। इस संकट की घड़ी में समय का महत्व होता है। कौन नहीं जानता है कि लम्हों का खास महत्व है। इसके बिना होता भी क्या

है ?मजहर इमाम ने कहा है –एक नवेली दुल्हन बन कर इक दिन अंदर आया था/जाने कब का भूला भटका लम्हा आधी रात गये।

समय गुजरने के बावजूद खबर की अपनी महत्ता है। खबरों के समाप्त होने के बाद भी उसका रंग दिखता है। उस रंग की अपनी पहचान होती है। देखने के अनुभव होते हैं। यथा: शकेब जलाली की इन दो पंक्तियों को उद्धृत किया जा सकता है।मुरझा के कली झील में गिरते हुए भी देख /सूरज हूँ, मेरा रंग मगर दिन ढले भी देख। शासक-दल के पास इतनी ताकत नहीं है कि वह सच को सच कहे। सही मायने में विगत २० सालों में जनतांत्रिक प्रक्रिया के चारों स्तम्भ को कमजोर करने का खेल चला है। इस खेल के पीछे किसका हाथ है ? इस प्रश्न का उत्तर सहज है। सभी अच्छी तरह जानते हैं कि भारतीय राजनीति पर जिन प्रभुओं का वर्चस्व है, उन प्रभुओं ने भारतीय राजनीति को भीतर ही भीतर खोखला बना दिया है। शासक दल ने बुद्धिजीवियों का गिरोह तैयार किया, जिस गिरोह का एक ही काम है; किसी तरह भारतीय समाज की बुनावट को बर्बाद करना। तथाकथित बुद्धिजीवियों ने ज्ञान को विकसित नहीं होने दिया बल्कि ज्ञान के नाम पर अज्ञानता को फैलाया।

सोचने समझने से यथार्थ का पता चलता है। भारतवासियों को यथार्थ को समझने का तरीका मालूम है। यथार्थ को समझे बिना सही हस्तक्षेप नहीं हो सकता है। वर्तमान चुनावी परिस्थितियों की हकीकत को दबाने के लिए चारों तरफ हमले किये जा रहे हैं, ताकि भारत के नागरिकों को सच का पता नहीं चले। इसलिए झूठ पर झूठ बोला जाता है, यह झूठ कौन और कैसे बोलता है – इन दोनों का जवाब हर मतदाता को मालूम है। मतदाता सब समझता है। मतदाता को भ्रमित करने के लिए नाना तरह की

कोशिशें की जा रही हैं। उन कोशिशों को एक साजिश ही कहना चाहिए। शासक दल की साजिश सामने आ चुकी है। देश विरोधी शासक दल से यही सवाल करना होगा कि क्या कभी उसने मतदाताओं से सच कहा है। सच कहने में मीडिया को सोचना पड़ना पर है। यथा: सोचना तो सचमुच चैन गवाना है। प्रेम बारबर्तनी के अनुसार –दुनिया सोचे शौक से सोचे आज और कल के बारे में /मैं क्यों अपना चैन गवाऊँ उस पागल के बारे में।

खबर बनाना नेकी का काम है। पर नेकी करने वाले भी चीखने लगे हैं। ज़ुबेर इस सच को रिजवी ने इस तरह देखा है-पुराने लोग दरियाओं में नेकी डाल आते थे /हमारे दौर का इंसान नेकी करके चीखेगा। पर उस चीख को कौन सुनेगा। कारपोरेट्स भी यही चाहते हैं कि संसद में एक ऐसी सरकार हो और एक ऐसा व्यक्ति हो जो उनकी सेवा करे। यही कारण है कि कारपोरेट्स जी-जान से ऐसी सरकार बनाने के लिए सुनाती मैदान में उतर पड़ते हैं।

खबर बनाने की वास्तविकता भी अपने ढंग की होती है। खबर की अपनी दुनिया है, जो वस्तुत: खाक उड़ाने में एक हद तक विश्वास करती है। क़ैसर-उल-ज़ाफ़री ने उल्लेख किया है -चलने को चल रहा हूँ मगर जी उचट गया/आधा सफ़र तो खाक उड़ाने में कट गया। इससे क्या सौहार्द्रता कायम होती है लेकिन सामाजिक सौहार्द्र को बढ़ाने की आवश्यकता है, लेकिन उसे नष्ट कर भेदभाव को बढ़ाया जा रहा है। इस भेदभाव के विरुद्ध आम लोग बोल रहे हैं। लेकिन बातों पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। लूटेरों की बदौलत राजनीतिक दल अपना-अपना संगठन और सरकार चला रहे हैं। यही कारण है कि उनमें भीतर-भीतर काफी दोस्ताना है। वे आपस में न लड़ते और न भिड़ते हैं। उनकी शत्रु गरीब-उत्पीड़ित-मेहनतकश जनता है।

उनके पिछलग्गुओं को संघर्षशील लोगों के प्रतिवाद देखकर डर लगता है। यही कारण है कि सभी राजनीतिक दलों की तरफ से एक ही बात कही जाती है। वे यही कहते हैं कि वे सरकार चलायेंगे, उनकी सरकार चल पड़ी है। यानी पहली बरसात की खुशबू आ गयी है। सही मायने में पहली बरसात के साथ खुशबू भी हवा में उड़ने लगती है। पूरन कुमार होश ने लिखा है-बरसात पहली-पहली पड़ी है जो गाँवों में/खुशबू तेरे बदन की उड़ी है हवाओं में।

कारपोरेट्स को अपने मुनाफों से मतलब है, वे मतलब के यार होते हैं। दक्षिणपंथी ताकतों के जरिये कारपोरे्स को लूटने का मौका ज्यादा मिलता है। इसलिए मौकापरस्तों की जमात खड़ी कर दी गयी है। इसके चलते विद्वेष की भावना बढ़ गयी है। और यह भावना एक तरह से फ्राड है। यही कारण है कि खबर बनने के नाम पर धुआं दिखने लगा है। उठते धुएं को देखने से ऐसा लगता है कि क्या चिराग बुझने लगा है या सचमुच किसी आग लगने की रोशनी फैलने वाली है। विवेकवान ही विचार करेंगे कि मीडिया धुआं की खबर क्यों देता है।

समय खोना ही असल खबर

नागरिकों को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करना तथा उन अधिकारों को सही रूप में प्रयोग करना वर्तमान समय की लाखों-लाख चुनौतियों के बीच एक कठिन और उचित चुनौती है। भारतीय समाज को भारतीय मीडिया भारतीय परम्परा या भारतीय मनीषा के रूप में न देखकर अपनी शर्तों पर देखने की कोशिश करता है। यह कोशिश अनवरत चलती है। इसे किसी सूत्र में बांधना असंभव है। मीडिया को एक कानून के तहत काम करना पड़ता है। इसलिए मीडिया के जरिये सूत्र का निर्माण करना एक जटिल प्रक्रिया है। इस जटिल प्रक्रिया को मीडिया सुलझाने का प्रयास करता है।

सुलझाने का सूत्र भी उसके सामने नहीं है। अधिकारों के प्रति जागरुकता नहीं है, इसलिए समाज के प्रति इतनी उदासीनता है। इस उदासीनता की छाया को किस तरह हटाया जाय, यह एक सवाल है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। यदि विद्वान है, तो रोकना या गतिरोध पैदा करना उसका नैतिक कर्त्तव्य है।

इस देश में आधे से अधिक काम कानूनी अड़चन के चलते नहीं होते और बाकी कार्यों में विद्वान गतिरोध पैदा कर रोकने की चेष्टा करते हैं। प्रशासन काफी कमजोर होता है और जो उसे चलाना चाहता है, वह कुर्सी पर बैठने के बदले उसे बेचने पर ज्यादा विश्वास रखता है। उसे यह ख्याल ही नहीं रहता है कि कुर्सी पर काम करने के लिए बैठाया गया है, न कि उसे बेचकर अपनी जेब भरने के लिए बैठाया गया। बुद्धिमत्ता की कमी के चलते यह रवैय्या दिखता है। जब समाज में लगातार भ्रम तैयार करने की पहल की जायेगी, तब व्यक्ति भ्रम में जीने के लिए बाध्य हो जाता है। ऐसी दुनिया में उम्मीद जगाना सहज हो जाता है। अपनी गोटी लाल करने के लिए कुछ भी करना एक तरह से सामाजिक अपराध है। इस अपराध को कम करने का सिलसिला नहीं दिखता है बल्कि समाज में अपराधिक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। समाज इस प्रवृत्ति को रोकने के बदले बर्दाश्त की गोटी खा रहा है। कभी-कभी स्मृति को ताजा करने की प्रक्रिया भी तेज होती है।

समाज की विकासधारा को रोकना असंभव है, लेकिन उसमें खलल डालना सहज है। विद्वान उस धारा में खलल डाल रहे हैं। मीडिया को इस बारे में थोड़ा सचेत होना चाहिए। मीडियाकर्मी यदि विद्वानों की असलियत को समाज में उपस्थित नहीं करेंगे, तो कौन करेगा। इस सच के साथ जनता के बीच जाने वाले असंख्य मीडियाकर्मी हैं। उनके कार्यों का मूल्यांकन होता है।

उस मूल्यांकन का समाज पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव को सामाजिक विकास के अनुरूप ढालना एक कठिन काम है, जो मीडियाकर्मी कर सकते हैं।

जब चारों ओर ठगने वालों की भीड़ जाम हो गयी है, जब किसी पर भरोसा करना नामुमकिन हो गया हो, जब हर तरफ नुकसान ही नुकसान हो, ऐसी स्थिति में जीना और जिंदगी को बचाना कितना आवश्यक हो जाता है, इसका अंदाज उस व्यक्ति को सहज ही लगता होगा, जो खुद को सामाजिक दायित्व के प्रति प्रतिबद्ध करने में विश्वास रखता हो। समाज में अविश्वास पैदा कर कोई विश्वसनीय नहीं बन सकता है, लेकिन कोर्ट-कचहरी में लगातार देखा जाता है कि न्यायाधीश के समक्ष गलत-गलत तथ्य पेशकर अपने पक्ष में निर्णय करवा लिया जाता है। ऐसी घटना भी देखने को मिलती है कि गलत निर्णय देने चलते न्यायाधीश की नौकरी चली जाती है, पेंशन बंद हो जाती है। यह सब काम मीडिया के मुखर होने से होता है। विद्वत्ता का उफान विद्वान और समाज के लिए खतरनाक है। दूध के उफान जैसा खराब है। विद्वान बनना समाज के लिए लाभप्रद है, जबकि विद्वत्ता का झूठा दंभ खतरनाक होता है। इंद्रपुरी में एक बार इंद्र को यह लगा कि उससे बड़ा विद्वान कोई नहीं है। उसने अपनी विद्वता का राजकीय अभिनंदन करवाया।क्योंकि अपनी कमजोरियों के चलते उसका नागरिक अभिनंदन नहीं हो सकता था।

इस तरह के अभिनंदनों की कहानी मिथकीय परम्परा में गुणवत्ता की दृष्टि से कम मिलती है। दमा की बीमारी के खत्म होने के बाद ऐसा नागरिक अभिनंदन का रिवाज जोर-शोर से चल पड़ा । सेठ-साहूकार इस रिवाज का सबसे बड़े शिकार हुए। सेठ-साहूकारों को जब लगता है कि अब दुकानदारी

को चलाना कठिन हो गया है, तब अपने इर्द-गिर्द के चापलूसों-पिछलग्गुओं के जरिये समाज से पैसे की वसूली कराने और उस वसूली से अभिनंदन कराने के महत्वहीन कार्यक्रम में खुद को जोड़ लेना उनकी बुनियादी कमजोरी है, जो आज-कल एक विधा कायम हो चुकी है।

इतने मीडियाकर्मी काम करते-करते शहीद हो जाते हैं, उनके नाम कोई एक फूल भी नहीं फेंकता है। मीडियाकर्मी से सम्बन्ध में साहित्यकार लिखना भी नहीं चाहता है, हालांकि मीडियाकर्मी अवकाश के क्षणों में जिन्दगी की हकीकत को लिख देते हैं। कोई किताब भी आ जाती है। उससे लोगों को कुछ मिलता भी है, कुछ नहीं मिलता है। मिलने के नाम अनुभव के अलावा क्या मिल सकता है। एक दर्शक-पाठक अनुभव को संगृहित करते हैं। समय के साथ-साथ अनुभव बदलते हैं। एक ही चीज बार-बार पढ़ने-देखने से चिंतन की धारा स्थिर हो जाती है। लिखना-पढ़ना होता होगा ज्ञान अर्जित करने का एक तरीका, लेकिन उससे भी अनोखा तरीका इस परम्परा में निहित है और वह है – समाज के बीच जाकर नि:स्वार्थ भाव से काम करना । मीडिया इसमें लगा हुआ है। इस तरीके को अपने ढंग से वह जीता है। जीने की कला भी अपने-अपने ढंग की होती है, जो व्यक्ति की मानसिक बुनावट पर निर्भर करती है। इस बुनावट पर भी संदेश प्रकट किया जाता है। इससे किसका हित होता है।

यदि मीडिया की दुनिया में हित को स्थापित कर न्यूज बनाने पर जोर दिया जाय, तो यही स्पष्ट होगा कि समाज को उन्नत करने के लिए मीडिया आज नहीं तो कल कारगर साबित होगा। मीडिया को इस भूमिका से काटने की प्रक्रिया तेज हुई है। वर्तमान परिस्थितियों ने मीडिया और उससे जुड़े व्यक्तियों की भूमिका को अविश्वसनीय बनाया है, जबकि मीडिया की

विश्वसनीयता बढ़ी है। उसकी प्रतिबद्धता भी मजबूत हुई है। प्रतिबद्धता के बिना विश्वसनीयता का सही परीक्षण नहीं होता है। मीडियाकर्मी बार-बार अपने हित को नहीं साधते हैं, लेकिन उन पर आरोप लगाया जाता है कि मीडियाकर्मी गलत तरीके से काम करते हैं;इस तरह के बयानों के सबूत नहीं पेश किये जाते हैं, लेकिन धारणा बनायी जाती है। धारणा बनाने से सही चीजें सामने नहीं आती है, उसके चलते निर्णय लेने में असुविधा होती है। और जब समाज निर्णय लेने में पिछड़ जाता है, तब उसके पिछड़ने को जायज ठहरा दिया जाता है। साथ ही, उसे कमजोर बनाने की प्रक्रिया चल पड़ती है।

कमजोर होते समाज की कहानी का मूल्यांकन नहीं होता है, जबकि उसके मूल्यांकन पर जोर देने से यह पता चल सकता है कि आखिर समाज क्यों कमजोर होता है। देखा यह जाता है कि कमजोर किस्म के लोग बढ़-चढ़ के काम करते हैं, उनकी कमजोरियां उनके कार्यों की झलक बन जाती हैं, लेकिन जो सबल हैं, वे कम काम करते हैं, उनकी सबलता उनकी नाकामियों में झलकती है – इस दृष्टि से भी मीडिया देखने का प्रयास करता है। इस प्रयास को उपस्थित करने से कई सच सामने आ जाते हैं। सच सामने आने से कहां कुछ होता है। यदि सच पता चल भी जाता है, तो उसके रुख को बदल दिया जाता है। दरअसल समाज में प्रभुत्वशालियों का वर्चस्वव रहा है और वे अपने वर्चस्व के जरिये काम करते हैं। तुलसीदास ने भी कहा है कि जो समर्थवान हैं, उनमें (दोष) कमजोरी नहीं होती है। उनमें दोष होता है, लेकिन वे अपनी ताकत के बल पर उसे दबा देते हैं। इससे हताश होने की जरूरत नहीं है। यह सामाजिक विकासधारा है। समाज धीरे-धीरे विकसित होता है। उसके विकास के पीछे कई उपादान काम करते हैं। जब तक उन उपादानों को नहीं समझा जायेगा, तब तक गति का भी सही मूल्यांकन नहीं

हो पाता है। मीडियाकर्मी को जिस तरह अपने मूल्यांकन की चिंता होती है, ठीक उसी तरह उन्हें यह भी चिंता होती है कि समय का सदुपयोग हो।

समय के साथ भाषा का उपयोग

समय का अपने-अपने डंग से सदा उपयोग होता है और मीडिया में समय का उपयोग एक विचित्र ढंग से होता है। समय की रफ्तार को अपने अनुकूल ढालना पड़ता है, जो व्यक्ति समय रूपी रथ के घोड़े की लगाम थाम लेता है, उसे समय की चिंता नहीं होती और जिस व्यक्ति के पास लगाम थामने की क्षमता नहीं होती है, उसे हर वक्त ऐसा लगता है कि समय खो गया। खोये समय को पाना ही एक तरह से खबरों की दुनिया से गुजरना है। यह दुनिया भी विचित्र दुनिया है। इसके बिना मानव समाज आधुनिक नहीं बन पाता। आधुनिक बनने से इस समाज को यदि कुछ मिला, तो सिर्फ तनाव मिला। इस तनाव के चलते मानव समाज भीतर ही भीतर दहकने लगा है। इस दहकने की खबर आज चारों तरफ फैल रही है। इसी खबर की तलाश में हमारा समाज लगा रहता है।

खबरों की प्रक्रिया को तेज करने में पूरा मीडिया जुटा हुआ है, लेकिन खबर बनाने की प्रक्रिया अपनी गति और अपनी शर्त पर चलती है। आज इसे बदलने की कसरत की जाती है, लेकिन उसका कोई नया रूप नहीं दिख पा रहा है। हर व्यक्ति यही चाहता है कि कोई खबर कहीं से आये, चाहे किसी की खबर हो, लेकिन अच्छी खबर हो, पर अच्छी खबर की क्या परिभाषा है? अच्छी खबर की परिभाषा चाहे जो हो; पर जिसे सुनकर खुशी हो। खबर खुशी तभी देती है, जब वह एकांगी नहीं होती है। अशुभ शक्तियों के गिरने की खबर अच्छी होती है। पूरे समाज की अग्रगति की खबर अच्छी होती है। आलू-प्याज की कीमतें घटने की खबर अच्छी होती है। किसानों-

मजदूरों के मरने की खबर अच्छी नहीं होती है। उद्योग-धंधे के चौपट होने की खबरें खराब होती हैं। वही खबर अच्छी होती है, जो खबर लोकतंत्र को बेहतर करने की होती है।

मानव समाज की विकासधारा अपने ढंग से आगे बढ़ती है। इस विकास को किस रूप में देखना चाहिए, इस सम्बन्ध में मीडिया को निर्णय लेना है, क्योंकि उससे समाज को उम्मीद है। यदि राजनीतिक दलों की तरह मीडिया भी लोगों की उम्मीदों पर पानी फेर देगा, तब भला हमारा समाज किधर जायेगा। दरअसल शब्दों के प्रयोग से जहां भाषा की गरिमा बढ़ती है, वहीं शब्दों के प्रयोग से भाषा का रूप खराब भी होता है। इस खराब रूप को असल रूप मानना उचित नहीं है। इस उचित रूप के लिए हमारा समाज आगे बढ़ता है। यही कारण है कि आगे बढ़ने की खबर अच्छी होती है; पिछड़ने की खबर तो पिछड़ी खबर मानी जाती है।

खबर बनाने में भाषा का महत्व है। भाषा सबसे बड़ा हथियार है। भाषा किसी का भाव बदल देती है। परिवर्तन करने के सिलसिले में भाषा तभी कारगर होती है, जब वह समाज की मानसिकता को बदल सके। दरअसल समाज के व्यापक हिस्सों की मानसिकता बदलना ही परिवर्तन है। इस परिवर्तन से समाज का लाभ कहां हो पाता है? चारों तरफ परिवर्तन की गूंज सुनायी पड़ती है, लेकिन समाज जहाँ का तहाँ खड़ा रहता है। मीडिया भी परिवर्तन का सच्चा और पक्का वाहक है। वाहक के रूप में वह अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। वैसे नाना तरह के सवाल उसके सामने उठाये जाते हैं। कई सवालों के जवाब मिलते हैं, तो कई तरह के जवाब नहीं मिल पाते हैं। सवालों का तूफान उठाकर ऐसा माहौल बनाया जाता है कि बड़ा परिवर्तन आ गया है। परिवर्तन की किरण समाज तक पहुँच कहां पाती है।

परिवर्तन तो खाये-पीये-अघाये हुए लोगों के लिए किया जाता है। चोला बदलना परिवर्तन हो सकता है; पर मीडिया के लिए चोला बदलना बदलाव नहीं है। यदि शासक दलों के क्रिया-कलापों के जरिये गरीब लोगों के जीवन में बदलाव नहीं आता है, तो उस बदलाव का कोई मायने नहीं है। मीडिया ने जीवन की इसी सच्चाई को सामने रखा है।

जीवन की सच्चाई की परिधि चाहे जितनी बड़ी हो या व्यापक हो, लेकिन एक सच को समझने की आवश्यकता है। वह एक सच क्या है? वह सच कई रंगों में लिपटा हो सकता है, उस सच के नाखून बड़े और लम्बे हो सकते हैं, सच के एक हद तक पैर भी हों, वह सच प्रभावशाली हो। इस तरह हजारों विशेषण से सच को लादने की कला कलाकार के पास हो सकती है। उस कला का आधार किसी पर विश्वास करना ही है। सही अर्थों में विश्वास करने की अभिव्यक्ति ही कला का स्त्रोत है।कलाकार इस उद्गम-स्थल को सदा बचाने का प्रयास करते हैं। विश्वास का खंडित होना समाज के लिए एक तरह का प्रलय है। मीडियाकर्मी इसी प्रलय से रोज जूझते हैं। समाज में आम जनता का विश्वास खंडित न हो, इस तरफ हमारा मीडिया बराबर ध्यान देता है। मीडियाकर्मी भी यही चाहते हैं कि हर खबर एक सच को पाठकों-दर्शकों के बीच स्थापित करे तथा विश्व को प्रगाढ़ से प्रगाढ़ बनाये। जिन मीडियाकर्मियों ने आस्था अर्जित की है, जिन मीडियाकर्मियों ने विश्वास को समाज में स्थापित किया है, उन मीडियाकर्मियों को समाज ने हमेशा उच्च स्थान दिया है। यही कारण है कि मीडियाकर्मियों ने झूठी खबरों या अर्द्धझूठी खबरों को किसी कीमत पर स्वीकार नहीं किया है। यह दुनिया झूठी खबर को स्वीकारती भी नहीं है।

सच्ची खबरें अनुभवों के जरिये सामने आती हैं। अनुभव सच को पुख्ता बनाता है और विश्वसनीयता इसी से पैदा होती है, जो अपने सिर पर वास्तविकता रूपी मयूरी पंख लगाकर पाठकों-दर्शकों के सामने हाजिर होती है। पाठक-दर्शक विश्वसनीयता के चलते ही किसी खबर को खबर मानते हैं। वैसे खबरों की जांच करने के हजारों मानक तैयार किये गये हैं। वे मानक अपनी जगह सही और उचित हैं। लेकिन खबर यदि धोखा दे, तो इससे खराब और क्या हो सकता है। अपराध की दुनिया भी धोखे पर नहीं चलती है, तब भला बे-अपराधी दुनिया को धोखे पर चलाना अनुचित ही नहीं असभ्यता की प्रारंभिक पहचान है। इस पहचान की दुनिया को कारगर बनाने के लिए पढ़े-लिखे लोगों की नियुक्ति करना अपराध के अलावा क्या है? अपराधी छाती ठोक कहता है कि अपराध करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। मीडिया उसके इस अपकर्म पर प्रश्न-चिह्न लगाता है। समाज में बढ़ते अपराधों की खबरों को दबाने के लिए चारों तरफ से जोर लगाया जाता है। मीडियाकर्मी इस सच को समझते हैं तथा वास्तविकता की मांग के अनुसार खबरों को एक आकार देते हैं। इस आकार से समाज को बल मिलता है।

खबर जीने की ताकत देती है। असहाय लोगों के लिए खबर एक भरोसा है। यह भरोसा उन लोगों को आनंद भी देता है। जीने के लिए हर तरह का आनंद उपलब्ध कराना मीडिया का चाहे अधिकार न हो, पर मनोरंजन को खबर बनाकर प्रस्तुत करने में कौन-सा अपराध लक्षित होता है। खबर को मनोरंजक तरीके से प्रस्तुत करने के बारे में विशेषज्ञों के एक मत किताब में उपलब्ध नहीं हैं। इसके बावजूद खबरनुमा मनोरंजन या मनोरंजननुमा खबर प्रस्तुत करने में विशेषज्ञों को कोई एतराज नहीं है। दरअसल जीवन को हर तरह से उन्नत बनाना ही सबसे बड़ी उपासना है।

जीवन को वही उन्नत बना पाता है, जिसने अपने जीवन को समाज के लिए समर्पित कर दिया है।

भारतीय परम्परा ने बार-बार यह वकालत की है कि दूसरों के लिए खुद को न्यौछावर करना ही श्रेयष्कर है। आधुनिक भारत में यह अवधारणा नहीं चल पा रही है। अभी ऐसी अवधारणा चल पड़ी है, जिसे देखकर भारतीय परम्परा सहम उठी है। दूसरों को रोकना तथा सबके लिए विकास की राह में बाधा डालने वाला नायक की तरह हंसता है और नायक बनने का 'खौफ' पैदा करता है। छल-बल,झूठ,असत्य, अर्द्ध-असत्य, मोह-लोभ-लाभ-मुनाफा-त्रास जिसके हाथों में शोभायमान है,वही नायक है, वही नायिका है। मीडियाकर्मियों को वर्तमान समय में इसी तरह के नायकों से लड़ना पड़ रहा है। यह भी सच है कि सामने जो चुनौतियां हैं, उन चुनौतियों का मीडिया मुकाबला नहीं कर सकता है। वह मुकाबला न करे, लेकिन छद्म मुकाबले के दौरान इतने उपादान एक साथ प्रकट हो जाते हैं, जिन उपादनों के जरिये युग की वास्तविकता को समझा जा सकता है। जीत निश्चितताौर पर डपोरशंखों की होगी; इसलिए कि जीत की हवा डपोर-शंखों के पक्ष में है। जिसे भाषा धीरे-धीरे अपने ढंग से आंकने का प्रयास करती है। मीडिया बदलते समय में भाषा का उपयोग अपने ढंग से करता है, जिसे कुछ लोग विचित्र भी कहते हैं।

नयी उड़ान के साथ इक जहान की चाहत

मीडिया की ताकत विगत पांच-सात सालों में तीन गुनी हो गयी। पहले भी खबरों की ताकत के सामने समाज के एक व्यापक हिस्से को झुकना पड़ता था, आज तो झुकना ही पड़ता है। वर्गीय आधार के अभाव में खबरों का अधिष्ठान कमजोर होता है। खबरों के अधिष्ठान को जितना मजबूत बनाया

जायेगा, खबर की लहक उतनी तेज होगी। यह लहक ईमानदारी पर आधारित होती है। झूठ-फरेब की राजनीति को जिस तरह धक्का पहुँचा है, ठीक उसी तरह झूठी खबर बेअसर दिखती है। झूठी खबर हास्यास्पद बनती नजर आती है। लेकिन इन दिनों विज्ञापननुमा खबर देने की एक धारा विकसित हुई है। यह धारा कब तक चलेगी, कहना मुश्किल है, पर इसमें वेग है। इस वेग को बर्दाश्त करना कठिन लगता है। ऐसा महसूस होता है कि खबरों की दुनिया में बाढ़ आयी है। दरअसल दुनिया बदल रही है या दुनिया को बेवजह बदलने की तैयारी चल रहा है – इसका मूल्यांकन इतिहास करेगा, फिलहाल यही कहना पड़ता है कि बदलाव की गति तेज है। किसी पटरी पर यह गति नहीं चल रही है। गति के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ की अवधारणा स्पष्ट है कि यदि गति वक्र रेखा पर जारी है, तो उसका नतीजा अधम होता है।

खबरों की दुनिया में नतीजे की परवाह नहीं की जाती है। इस दुनिया में पावर ही सब कुछ तय करता है और यह पावर पैसों का है। इतिहास गवाह है कि पैसों के पावर के सामने राजनीतिक पावर को झुकना पड़ता और राजनीतिक पावर हर वक्त नकारात्मक दिशा में बढ़ता हो, ऐसी बात नहीं है। छोटे-छोटे सड़कछाप राजनीतिक ध्वजाधारी जब ताजमहल की बिक्री करने की बोली लगाते दिखते हैं, तो आश्चर्य होता है। इस आश्चर्य पर मीडियाकर्मी को हंसी आती है। क्योंकि यह नकारात्मकता आगे नहीं बढ़ पाती है। यह भी सवाल उठता है कि परिवर्तन के दौर में जब नकारात्मक शक्तियां एकजुट होती हैं, तब उनका मकसद यही होता है कि विकासधारा को रोको। दैनंदिन के कार्यों पर तलवार लटकाना ऐसी नकारात्मक शक्तियों का जन्म सिद्ध अधिकार हो जाता है। खलल पैदा करने से जहां नकारात्मक शक्तियां अपनी सामर्थ्य का इजहार करती हैं, वहीं यह भी साबित होता है कि उन

शक्तियों ने अपने लिए कब्र खोद लीया है, वैसे उन नकारात्मक शक्तियों को अपने काले करतूत पर शर्म नहीं आती है, वे शक्तियां गर्व महसूस करती हैं तथा होली खेलने के लिए रंग नहीं कीचड़ का इस्तेमाल करती हैं। उनकी सक्रियता रहती है। सक्रिय होने के चलते विभिन्न तरह की नकारात्मक शक्तियों को इकट्ठा करने की सहूलियत मिलती है।

विश्व में नकारात्मकता का ग्राफ ऊपर उठा है। खासकर आर्थिक मंदी ने इस ग्राफ को ऊपर उठाया है। इसका प्रभाव चारों तरफ पड़ा है। इस प्रभाव के चलते नकारात्मकता की बांछें खिल चुकी हैं। फिलहाल उनकी चमक चारों तरफ है। उस चमक के बीच से उम्मीदों की किरणें कुछ लोगों को नजर आती हैं। यह उम्मीद असंतोष की कोख से उपजी है। असंतोष यदि उम्मीद को पैदा करे, तो यही समझना चाहिए कि आक्रोश का बोलबाला कायम होने वाला है। आक्रोश जमा होते ही बारूद की तरह फटता है। इस विस्फोट में जानलेवा शक्ति होती है। नकारात्मक शक्तियां इसी दिशा में बढ़ती हैं। हर क्षण उन्हें विजय-श्री चाहिए। विजय-श्री के बिना जिंदा रहना उनके लिए असंभव है। सच पूछा जाय, तो पूरा मुल्क ही आवारा सियासत की चपेट में आ गया है, जहां हर झोपड़ी खतरा महसूस कर रही है। आवारा पूंजी ने इस आवारा सियासत को जन्म दिया है, जिसका असर खबरों पर दिखता है।

मुख्यधारा की पत्रकारिता में आवारा खबर जन्म ले रही है, जिसका मकसद है कि किसी कीमत पर सच की बुनियाद को तोड़कर नीचे गिरा दिया जाय। सच को ध्वस्त करने में इस आवारा खबर की भूमिका है। इस तरह के समाचारों में संघर्षात्मक प्रवृत्तियों को लीलने की ताकत होती है। आवारा खबर न झूठ है और न सच है, अपने-आप में वह आवारा है। वह किसी के

प्रति उत्तरदायी नहीं है। उसके गले की रस्सी किसी खूंटे में नहीं बंधती है। जहां उसको बांधो, वहीं से वह खबर भागती है। इस भागने में वह अपना भविष्य देखती है। पर भागते हुए भविष्य की धारणा इतिहास और दर्शन में स्पष्ट है। किसी इतिहासकार या किसी दार्शनिक ने इस भागते हुए भविष्य को सकारात्मक ढंग से उपस्थित नहीं किया है। यह दरअसल वर्तमान की समस्याओं से पलायन की प्रवृत्ति है। नहीं जानना बड़ी बात नहीं है, पर नहीं जानकर ज्ञानी होने का दावा करने के नाम पर कुल्हाड़ी चलाना स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं होता है।

व्यवस्था के संचालक कुल्हाड़ी चलाने की प्रवृत्ति को अच्छी निगाह से देखते हैं, क्योंकि कुल्हाड़ी चलाने वालों को देखकर उन्हें खुशी मिलती है, जैसे गरुड़ को सांप देखने से खुशी मिलती है। नारद ने एक बार गरुड़ से पूछा कि सांप देखकर दुनिया का हर कोई डर जाता है और एक हद तक आतंकित हो जाता है, पर आप गरुड़ महाराज खुश क्यों हो जाते हैं, गरूड़ ने कहा कि सांप के पास जहर होता है। नारद का प्रश्न था कि हां, इसी जहर के चलते दुनिया डरती है और आप उसे देखकर चहकते हैं। हंसते हुए गरुड़ ने कहा कि जहर जीवनदायी औषधि है, बशर्ते उस जहर को समझ लिया जाय। आवारा खबरों में जहर नहीं होता। इस तरह की खबरों में अफवाह भी फैलाने की ताकत नहीं होती है। इसके बावजूद आवारा खबर समाज में गतिरोध पैदा कर देती है। वह समाज को भीतर ही भीतर संत्रस्त करती है। हिन्दी मीडिया में इस खबर का प्रचलन कम था, लेकिन वर्तमान में आवारा खबर का दायरा बढ़ गया है।

मुख्यधारा की पत्रकारिता में यह खबर चिटफंड द्वारा संचालित खबरों के जरिये घुसती नजर आती है। मुख्यधारा की पत्रकारिता आवारा

खबर को देखकर हतप्रभ है, क्योंकि जब किसी मानक को न माना जाय, तो फिर उसे खबर किस आधार पर कहा जायेगा; आवारा खबर किसी मानक को नहीं मानती है। नियम-कानून को ध्वस्त करना ही उसका मकसद है। नियम-कानून की अवहेलना समाज और जनतंत्र के लिए घातक है। जनतंत्र को ध्वस्त करने में इस आवारा खबर की बड़ी भूमिका होती है। इसलिए जनतंत्र विरोधी शक्तियां एकजुट होकर अपना विजय –रथ लेकर निकलती हैं और सबको कुचलने का साहस दिखाती हैं। लेकिन वह शक्तियां अंधेरे को रोशनी का नाम देती हैं। ऐसी स्थिति में भारत के मीडियाकर्मी उस अंधेरे को कुचलने के लिए कलम उठाते हैं। उनकी कलम को सलाम करना वक्त की मांग है, क्योंकि चंद रचनाकार ही अंधेरे को कुचलने के हौसले को प्रस्तुत कर पाते हैं। अंधेरे को कुचलने वाला व्यक्ति ही इतिहास में अपना स्थान बनाता है।

खबर जहां एक ओर वास्तविकता को जन्म देती है; वहीं दूसरी ओर धीरे-धीसरे समाज में सच को प्रतिष्ठित करती है। उसके सामने एक प्रश्न बराबर बना रहता है। इस प्रश्न को चन्द्र त्रिखा के शब्दों में प्रस्तुत करना अनुचित नहीं होगा, जैसाकि उन्होंने लिखा –कौन दहशत भर गया मोनालिजा की आंख में/कौन था मुस्कान के जो मूक जेवर ले गया/ यही आवारा खबर है, जिसने चारों तरफ दहशत पैदा की है। उसने विज्ञापन को मनोरंजन का बाहरी जामा पहनाया है और खबर को भीतरी जामा। इन बाहरी-भीतरी उपादानों से खबर बन पाती है। बाहरी उपादान जहां खबरों का सौन्दर्यबोध दर्शाते हैं, वहीं भीतरी उपादान उनकी प्रतिबद्धता को उजागर करते हैं। असल यह है कि खबरों की प्रतिबद्धता ही सुन्दरता है, जिसका मकसद जनकवि हृदयेश मयंक ने इन पंक्तियों में उजागर किया है – नजर को ख्वाब परों को नयी उड़ान मिले। खुदा करे तेरी चाहत को इक जहान

मिले। खबर वैसी हो, जहां ख्वाब उड़ान और जहान का संगम हो। यही संगम रूपी खबर जिन्दगी और मौत को समझ सकती है। इस पर नजर डालते हुए चन्द्र त्रिखा ने लिखा है – दिये की लौ जो हवाओं में थरथराती है। जिन्दगी मौत से आगाह हुई जाती है।

३. खबरों की तेजस्विता

अपनी तेजस्विता से खबरें चमकती हैं। इसी गुण के आधार पर खबरों की भूमिका तय होती है। इसी आधार पर खबर दूसरों को प्रभावित करती है। खबरों की तेजस्विता सबसे महत्वपूर्ण है। मीडिया में सार्थक काम का प्रचार कम नजर आता है। इस देश में घोषणाओं का काफी प्रचार होता है। इस प्रचार का असर भी लाजवाब है। घोषणाओं से उम्मीदें जगती हैं। उम्मीद जगने तक प्रचार ठीक है। यदि उम्मीदों पर पानी फिर जाता है, तो हताशा का जन्म होता है। आशावादी घोषणाओं के जरिये हताशा पैदा होती है। भारतीय मीडिया इस ओर ध्यान कम देता है। मीडिया यह देखता है कि कौन घोषणा कर रहा है तथा जनता क्यों उस घोषणा पर कान दे रही है; इन दोनों सवालों पर विचार करते हुए मीडिया प्रचार आरंभ करता है। देखते-देखते प्रचार की आग में जनमत पकने लगता है। इस जनमत को देखकर आशा के अनुरूप व्यापक स्तर पर लोभ और मोह का जन्म होता है। मीडिया इन दोनों पर

नजर डालता है तथा काल के अनुसार खबरों को जन मानस के बीच ले जाने का प्रयास करता है। मीडियाकर्मी यही मानते हैं कि उनका काम पूरा हो गया। लेकिन उसके बाद कार्यों की परिधि बढ़ जाती है। बढ़ती परिधि को देखकर लोगों की जिम्मेदारी भी बढ़ती है।

संविधान में नागरिकों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में जमकर लिखा गया है। पर उस कर्त्तव्य को पूरा कहाँ होने दिया जाता है। सारी समस्याएं नागरिकों के जीवन में ही हैं। उन समस्याओं का निदान क्यों नहीं हो पाता है। इस बारे में मीडिया में कई तरह की खबरें आती हैं, लेकिन उन खबरों का सही जायजा लेना आम जनता के लिए कठिन है। अभी आम जनता के सामने जिस तरह से समस्याओं को प्रस्तुत किया जा रहा है, उसे देखने से यही लगता है कि व्यवस्थाओं की कमजोरियों के चलते आम लोगों को संकट में फंसना पड़ रहा है। यदि व्यवस्था की कमजोरियों को दूर किया जाय, तो आम जनता के जीवन में जो कष्ट धीरे-धीरे छा रहा है, उसे दूर करना संभव है।

व्यवस्था को संचालित करने वाले जिम्मेदार 'मसीहा' आम जनता की समस्याओं को दूर करने के लिए कितना चिंतित हैं, यह कहना मुश्किल है। पर मीडिया जिस तेह से खबर बनाने पर जोर देता है, उससे यही लगता है कि व्यवस्था को संचालित करने वाले मसीहा को आम जनता की समस्याओं को दूर करने की चिंता नहीं है। मीडिया हमेशा यही रुख अपनाता है। इस रुख को देखकर लोगों को यह महसूस होता है कि मीडिया व्यवस्था के विरुद्ध खबर बनाना चाहता है। व्यवस्था के विरुद्ध जो खबर होती है, उस खबर को देखकर लोगों को यह महसूस होता है कि मीडिया एक अच्छा काम कर रहा है। मीडिया द्वारा प्रस्तुत खबर आम जनता के बीच अलख जगाती

है। सच को समझने में खबर की भूमिका को आज तक किसी विद्वान ने अस्वीकार नहीं किया है। खबर में इतनी ताकत होती है कि वह विचार की सूरत बिगाड़ देती है। यही कारण है कि विचार अपने ढंग से आगे बढ़ता है। विचार को बढ़ते देखकर प्रतिरोधात्मक शक्तियां भी उत्साहित होती हैं।

समाज को आगे बढ़ाने में उत्साह की अहम् भूमिका है। कभी-कभी उत्साह को व्यापकता तक मीडिया पहुँचाता है, तो कभी-कभी मीडिया इस तरह के उत्साह को कमतर सिद्ध करने की कोशिश करता है। मीडिया का मकसद समाज को चलाने की प्रक्रिया का विवेचन नहीं है। इस विवेचन को बड़े पैमाने पर आधारित करने के लिए प्रतिरोध की जरूरत पड़ती है। और जब प्रतिरोध की खबरें मीडिया में आने लगती हैं, तब विज्ञापन की संख्या कम हो जाती है। विज्ञापन कम होने के चलते मीडिया के सामने खतरा आता है। इसलिए मीडिया संचालक यही कोशिश करते हैं कि खबर के साथ-साथ विज्ञापन आये और यदि खबर और विज्ञापन के बीच चुनने का सवाल उठता है , तो विज्ञापन की प्राथमिकता सर्वविदित है, क्योंकि विज्ञापन को खबर के सारे उपादानों के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन खबर को विज्ञापन के सारे उपादानों पर प्रस्तुत करना मुश्किल होता है। खबर को कभी-कभी अपना आर्थिक आधार चुनना पड़ता है। आर्थिक अधिष्ठान के बिना खबर को आगे बढ़ाना कष्टकर होता है। इस कष्ट को कोई न्यौता देकर नहीं बुलाता है।

परिस्थितियों को जटिल बनाना सहज होता है। मीडिया में इस सहजता का रेखांकन किया जाता है। इससे कई सवाल उठकर सामने आते हैं। मीडियाकर्मी अपनी सुविधाओं के अनुसार उन सवालों को टटोलते हैं और उत्तर प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। मीडिया चाहे जिस रूप में उन

प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करे, आम जनता यही समझती है कि कुछ हो रहा है। सफर पर खबर जाती हो या न, पर उसका फलक विस्तृत होता है। कभी-कभी खबर खुद के अहंकार से जूझती है। खुद का अहंकार समाज के लिए बार-बार घातक साबित हुआ है। विवेकशील लोग खबरों की घातकता से बचने की कोशिश करते हैं।

खबर की घातकता को किस रूप में देखा जाय, यह भी एक बड़ा काम है। इस कार्य को अंजाम देने के लिए खबर-प्रेमियों को जुटाने की अपेक्षा खबर की ग्राह्यता पर जोर देना जरूरी है। मीडिया हाउस खबर की ग्राह्यता पर जोर देता है तथा हर वक्त इसकी तलाश करता है कि खबर आगे किस रूप में बढ़ती है। खबर के आगे बढ़ने से लोकप्रियता पर खतरा मंडराता है। सस्ती लोकप्रियता की चाहत में सुबह से शाम तक काम करने वालों की सच्चाइयां जब सामने आ जाती है, तब इसके किए मीडियाकर्मियों पर दोष थोपा जाता है। मीडियाकर्मियों की सृजनात्मकता की पहचान आज जरूरी हो गयी है। इस सृजनात्मक पहचान के बिना खबरों की दुनिया समृद्ध नहीं हो पाती है।

सही अर्थों में खबर की दुनिया एक सृजन की दुनिया है, जो मानवीय गुणों पर आधारित है। इस आधार को ध्वस्त करने के लिए समाज के विभिन्न कोनों से हमले होते हैं। उन हमलों का विश्लेषण मीडिया अपने विचार के जरिये करता है। विचार निश्चिततौर पर विवेचन को ताजा बनाता है। विवेचन के रूपों को देखने से पद्धतिगत समस्याएं उठती हैं, उन उठती समस्याओं का जिक्र भारतीय मीडिया उस तरह से नहीं करता है, जिस तरह से पश्चिम का मीडिया करता है। यह सच है कि भारतीय समाज की समस्याओं का निदान किसी कीमत पर पश्चिम द्वारा आधारित मूल्यों के

आधार पर नहीं हो सकता है। खबर बनाने और उसकी प्रस्तुति के दरम्यान यह देखा जाता है कि कई पश्चिमी मीडिया के तत्व इन खबरों में घुस आये हैं, जो अपनी विशेषता जाहिर करने के नाम पर खबर की धारा में खलल डालते हैं। खबरों को इस तरह के असंख्य खललों से बचाने के पश्चात ही खबर की जनधारा स्थापित हो सकती है।

हिन्दी पत्रकारिता इसी जनधारा को लेकर आगे बढ़ती रही है। पत्रकारिता की मुख्यधारा का विकास भारत की धरती पर इसी रास्ते पर हुआ है। इस रास्ते का मूल्यांकन जितना जरूरी है, ठीक उसी तरह उसकी महत्ता की चर्चा आवश्यक है। द्विजेन्द्र द्विज ने बिल्कुल ठीक लिखा है – बिछ गयी हैं जो सुरंगें जिन्दगी की राह में/ उन सुरंगों से निकलता रास्ता लिखते हैं हम/ भारत के मीडियाकर्मी उन बंद कमरों के लिए खबर लिखते हैं, जहां तक ताजा हवा पहुँच नहीं पायी है। लेकिन आज आवारा खबर उनके सामने चुनौती प्रस्तुत कर रही है। इस चुनौती को स्वीकार करना जरूरी है। इसके लिए वास्तविकता को समझना तथा उसके अनुरूप कदम उठाना एक काफिला बनाने के समान है। मुख्यधारा के पत्रकार खबरों के हर कदम पर एक काफिला बनाते हैं। यही कारण है कि इन पत्रकारों से दुनिया उम्मीद लगाये बैठी रहती है।

आधुनिक भारत में आज इसी जन-धारा पर खतरा है, जिसकी खबर भारतीय मीडिया में कम आती है। भारत में संघर्ष की खबर देना जरूरी है, क्योंकि इसी खबर से समाज का विकास हो सकता है। जनधारा की खबरों को प्रकाशित करने पर व्यवस्था के संचालक चौंक पड़ते हैं, क्योंकि कहने से खराब दिन नहीं जाते, अच्छी खबर के लिए इंतजार के अलावा दूसरा रास्ता कहां दिखता है? इंतजार भी एक खबर है, क्या हम-आप इसी

राह के राही हैं। सच तो यह है कि विज्ञापन खबर पर भारी पड़ता है। यही कारण है कि खराब 'दिन' भी अच्छे दिखने लगते हैं।

अतिवाद का शिकार स्वतंत्र विचार

भारतीय मीडिया की पहुँच को लेकर विभिन्न तरह के सवाल उठते हैं। उन सवालों में एक अहम् सवाल यह भी है कि भारतीय मीडिया स्वतंत्र विचार को लेकर नहीं चलता है; क्योंकि वह इस डिजिटल युग में अतिवाद का शिकार हो गया है। चौथा स्तम्भ होते हुए भी किसी खास पक्ष को उजागर करना भारतीय मीडिया का अभीष्ट है, जिस पर पश्चिम का प्रभाव लक्षित होता है। प्राच्य और पाश्चात्य के संवाद पर विद्वानों का अपना-अपना दृष्टिकोण है। कौन-सा दृष्टिकोण सही है, इसको लेकर शब्दों के बाण चलते हैं। घायल कौन पक्ष होता है। यह कहना मुश्किल है। पर यह सच है कि इस वाण-वर्षा में घायल भारत की संस्कृति होती है, जिसे बचाने के लिए किसी पक्ष को आगे आते हुए नहीं देखा जा सकता है। जब साहस की कमी हो जाती है, तब शब्द ठिठुर जाते हैं। इस ठिठुरे शब्दों को लेकर कोई युद्ध नहीं लड़ सकता है। युद्ध करने की अवधारणा लोग भूल गये हैं। जन-मानस को पता चल गया है कि युद्ध से किसी समस्या का समाधान नहीं होने वाला है। जो बात-बात में तलवार खींचकर मैदान में शंख फूंकने लगते थे, आज उनकी तलवार टीन की तलवार बन गयी है और उनके शंख से आवाज नहीं निकल पा रही है। आज यदि उत्सव में भी कोई शंख फूंकता है, तो बच्चे भी चिढ़ जाते हैं, क्योंकि इस ग्लोबल दुनिया में शंख फूंकने की परम्परा अप्रासंगिक साबित होती नजर आ रही है। वैसे शंख बजाने की कला में नया-नया इजाफा हुआ है।

जब कोई परम्परा सूखने लगती है या अप्रासंगिक बनने लगती है, तब मीडिया के सामने चुनौती खड़ी होती है। यह एक बेढब प्रश्न है कि परम्परा की प्रासंगिकता से मीडिया का क्या रिश्ता है? इस रिश्ते को मीडिया कहां-कहां बिल्ली की बच्चियों की तरह घुमाता है। देश-काल से जब रचनाशीलता आगे बढ़ती है और मन के कोमल भावों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की क्षमता को सार्थकता प्रदान करती है, तभी जाकर कोई रचना अपने केद्र-बिन्दु के साथ समाज में प्रस्तुत हो सकती है। इसलिए रचना के विश्लेषण में समय लगता है। यह समय जायज है। कई रचनाएं ऐसी हैं, जिनका मूल्यांकन अभी तक नहीं हो पाया है। मूल्यांकन को समझना ही परम्परा की प्रासंगिकता नहीं है। किसी परम्परा को प्रासंगिक बनाने के लिए ठोस काम करना जरूरी है। मीडिया के अन्तर्गत वह दम है, जिसके बल पर मीडिया किसी परम्परा को हिला सकता है। यदि परम्परा इस दुनिया को रोशन न करे, तो उसकी आवश्यकता ही क्या है?

असंतोष से संत्रास का जन्म होना जिस तरह लाजिमी है, ठीक उसी तरह सहृदयता के अभाव में संदेह पैदा होता है। संदेह मानव-जीवन का एक अवगुण है। संदेह एक तरह अमानवीय गुण है, जो पूरे समाज को भीतर से आहत कर देता है। जिस व्यक्ति में यह संदेह ज्यादा होता है, उसकी सहृदयता खत्म हो जाती है। सहृदयता के खत्म होते ही खबर की क्षमता क्षीण हो जाती है। सहृदयता के अभाव में खबर का क्षरण होने लगता है। वर्तमान दौर में खबरों का क्षरण बढ़ा है। वैसे मीडियाकर्मियों से लेकर मीडिया विशेषज्ञों ने इस क्षरण को रोकने के लिए कई तरह के प्रयास किये हैं। इस तरह के प्रयास कारगर साबित नहीं हुए हैं यह कहना अनुचित है, क्योंकि खबरों की पहचान पहले की अपेक्षा अभी और स्वच्छ व परिष्कृत हो पायी है। खबरों को ताकतवर बनाने में उन्नत प्रौद्योगिकी और दक्ष प्रौद्योगिकविद्रों की

महती भूमिका रही है। उम्मीद की जा रही है कि आने वाले समय में यह पद्धति और विकसित होगी।

खबर की दुनिया में परम्परा का महत्व है। खबर बनाने की परम्परा रही है, जो काफी समृद्ध रही है। इस दुनिया में उसकी अपनी पहचान हुई। खबर कुछ भी हो सकती है। विषय की अपेक्षा प्रस्तुति का पक्ष खबर बनाने के सिलसिले में बार-बार उजागर होता रहा है। यह अलग बात है कि खबर बनाने में विषय और प्रस्तुति की अपेक्षा उसके प्रभाव को ध्यान में रखा जाता है। खबर प्रभाव डालती है, इसलिए खबर को तटस्थ देखा जाता है। वैसे तटस्थ खबर चाहे जितना आनंद दे, लेकिन उसका प्रभाव दूरगामी नहीं होता है। तटस्थता के चलते खबरों की परम्परा भी आगे नहीं बढ़ पाती है। खबरों को दस्तावेज के रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है, तभी वह असरदार होती है।

खबरों की कीमतें अनमोल होती हैं। खबरों की बिक्री होती है। खराब खबर को रंग-रोगन लगा कर बेहतर बना दिया जाता है और अच्छी खबर भी किसी अनाड़ी के हाथ में पड़ने के बाद चिहुक उठती है । वह क्या कहना चाहती है, उसे नहीं कह पाती है। जो खबर वाचाल नहीं है, उसकी ताकत काफी गंभीर होती है। गंभीर खबरों का विश्लेषण कठिन होता है। उसके लिए परम्परा को समझना उचित है। जब तक परम्परा को नहीं समझा जाता है, तब तक उसका मूल्यांकन करना भी जटिल प्रक्रिया से गुजरना ही है। खबरों को सहजता के साथ प्रस्तुत करना बड़ी बात है। यह एक कठिन काम है। यह काम समझदारी से किया जाता है। निजी चेहरा चमकाने और जेब भरने की खबरें अब दिलचस्प नहीं रही हैं। समाज में जो कुछ अच्छा है या नियम के अनुसार सही हैं; वह खबर नहीं है। समाज में जो बेनियम, अनियम या कुनियम से चल रहा है, वही खबरों का विषय है। खबर इसी

तरह खराब चीजों को सामने धीरे-धीरे लाती है, ताकि इस दुनिया को एक नयी दिशा मिले और समाज रहने लायक समाज बन सके।

खबर 'उम्मीद के बादल' की तरह नहीं आती है। क्या इस समाज में कहीं दूर तक उम्मीद के मेघ दिखते हैं। उम्मीद का मेघ इतनी जल्दी दिखता भी नहीं है। उम्मीद जगाने वाले या सपना दिखाने वाले खबरों को भीतर ही भीतर तहस-नहस कर देते हैं। इस तहस-नहस की खबरों को विभिन्न तरह से प्रस्तुत करना कहाँ तक उचित है, यह कहना नामुमकिन है। लेकिन इन खबरों से समाज की अग्रणी शक्तियों को ताकत मिलती है। सबको लेकर चलने की क्षमता सब में नहीं होती है। पर जिन खबरों में यह ताकत होती है, वह खबर क्लिक कर जाती है। सबके सामने आंसू बहाने तथा चूहों के सामने धौंस जमाने की खबरें इन दिनों काफी बढ़ गयी हैं। भारतीय मीडिया इस ओर नजर डालता है तथा उन खबरों को समाज में लाने का प्रयास करता है। उसका यह प्रयास कहां तक कामयाब होता है। इसका अंदाज खबर-विशेषज्ञ को होता है। खबर-विशेषज्ञों को यह मालूम है कि आज अपराध की खबरें सबसे ज्यादा बिकती है। अपराध की खबरों की कीमतें भी अन्य खबरों की अपेक्षा ज्यादा होती हैं। यह खबर टिकाऊ भी होती है, चाहे किसी क्षेत्र की वह खबर क्यों न हो? समय के अनुसार खबरों का तेवर बदलता है। इस बदलते तेवर को समझना वक्त की नब्ज टोना है। सही अर्थों में खबर एक तरह से वक्त की नब्ज है।

इस डिजिटल युग में सामाजिक बुनियाद पर जिस तरफ से खतरा आ रहा है, उसे रोकना जितना जरूरी है, ठीक उसी तरह यह भी जरूरी है कि उस बुनियाद को मजबूत करते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन-मनन की दिशा को निर्धारित करने पर जोर दिया जाय। जब तक समाज में

दार्शनिकता का सही अर्थ स्पष्ट नहीं होगा, तब तक समाज में साहस का अभाव दिखता रहेगा। इस अभाव के चलते उत्साह की कमी दिखती है। और हर काम उत्साह से होता भी नहीं है। इस सब के लिए शब्द की ताकत को बचाना जरूरी है। शब्द क्यों मर जाते हैं, इस तरफ कवि केदारनाथ सिंह का ध्यान गया है। उनके अनुसार; ठंड से नहीं मरते शब्द/वे मर जाते हैं साहस की कमी से/कई बार मौसम की नमी से/मर जाते हैं 'शब्द'-शब्द/वस्तुत: मीडिया को बचाये हुए हैं। / और इस बचाव की दुनिया को आगे बढ़ाने के लिए वह परम्परा का मूल्यांकन करता है। मीडिया परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए ठिठुरे शब्द को जिन्दगी देने के लिए प्रतिबद्ध है।

निष्प्रभाव प्रचार की तेजोदीप्तता

मीडिया राजनीतिक असंतोष को कम करता है, जिसका लाभ कारपोरेट जगत को मिलता है। मीडिया एक तरह से इस लाभ की गारंटी है। इस २१वीं सदी में कारपोरेट ने मीडिया को ताकतवर बनाने का काम किया है तथा अपने पक्ष को उजागर किया है। यदि मीडिया उसके विरुद्ध मुंह खोलता है, तो उसे नष्ट होने के लिए तैयार रहना पड़ता है। समाज में अब मुंह खोलना भी अपराध जैसा हो गया है। यह बात वे लोग कहते हैं, जो सुबह से लेकर योजनाबद्ध तरीके से बड़ी-बड़ी संस्थाओं की नींव खोदने में जुटे रहते हैं। यह देखा जाता है कि जो अपराध को बढ़ावा देता है, वही अपराध कम करने की वकालत करता है। ऐसी हालत में अपराधियों को रेखांकित करने के मापक को बदलना जरूरी है।

बदलाव हर दिशा में अच्छा होता है। इस अच्छाई को बड़े पैमाने पर स्थापित करने के लिए उचित कार्रवाई जरूरी है। यह पहल कौन करेगा? चारों तरफ मीडिया को दबाने की कोशिश की जा रही है। इस कोशिश को

ध्यान में रखते हुए परिस्थितियों का अध्ययन मनन मीडियाकर्मी करते हैं। किसी न किसी रूप में स्वार्थी तत्वों का मेल-मिलाप मीडियाकर्मी से हो जाता है। इस मेल-मिलाप का लाभ उठाकर स्वार्थी तत्व धीरे-धीरे राजनीतिक घेराबंदी शुरू करते हैं, जो समाज के लिए सबसे खतरनाक होता है। राजनीतिक संगठन जब-जब अपनी गतिविधि शुरू करता है, तब-तब इन स्वार्थी तत्वों के पास प्रचार का औजार होता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि उनके हाथों में प्रचार का औजार नहीं होता है, इसके बावजूद वे झूठे प्रचार में लगे होते हैं। कौन नहीं जानता कि झूठे प्रचार का महत्व नहीं है। फिर भी एक दह तक उसका प्रभाव रहता है। झूठे प्रचार को निष्प्रभावित करने के लिए मीडिया को आगे बढ़ते हुए कुछ ऐसे हस्तक्षेप करने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि स्वार्थी तत्व का सामना करना पड़ता है। इन स्वार्थी तत्वों को धक्का पहुँचे तथा समाज व्यापक स्तर पर उन तत्वों की पहचान कर सके।

पश्चिम में मीडिया ने हमेशा स्वार्थी तत्वों को चिह्नित किया है। असाधुओं की पहचान पश्चिम जगत के मीडिया की एक विशेषता है। इस विशेषता के लिए विद्वानों ने पश्चिम के मीडिया की सराहना की है। पश्चिम जगत में मीडिया ने बार-बार स्वार्थी तत्वों की व्यापकता को रेखांकित करते हुए यथार्थपरक तरीकों से उन तत्वों को समाज से अलग-थलग किया है। इस ग्लोबल युग में स्वार्थ की व्यापकता को पहचानना जरूरी है। भारतीय मीडिया को इससे सीखने की आवश्यकता है।

भारत में स्वार्थी तत्व को मीडिया के एक हिस्से ने जगह देना आरंभ किया है। इससे खतरा शुरू हुआ। प्रचार का लाभ अपराधी संगठन को मिला है। बार-बार यह देखा जाता है कि जिसे अपराध के चलते जेल में रहना

चाहिए, वह प्रशासन चलाता है तथा अपराध के नाम पर प्रवचन देता है। भारत में प्रशासन –शासन को चलाने में प्रवचन का महत्व बढ़ता जा रहा है। जहां आध्यात्मिक सुख या मुक्ति देने के नाम पर पूरी तरह जीवन को चलाने के लिए छल-प्रपंच किया जाता है। लोग कहते हैं कि छल-प्रपंच करने वाले कौरव से भी ताकतवर होते हैं। उन ताकतवारों की समीक्षा करने वालों की संख्या है। ताकत बटोरने की पहल वही करता है, जो स्वार्थ को लेकर चलता है। स्वार्थ में भी निजी स्वार्थ को महत्व देता है। इसके लिए कुछ करना कठिन होता है।

स्वार्थी तत्व हर वक्त जनतंत्र के विरुद्ध कुछ-न-कुछ करता है। जनतंत्र विरोधी काम को वह अपना अधिकार समझता है तथा अपनी स्वार्थसिद्धि को अपना दायित्व समझता है। मीडिया इन से शायद घबराता है। इसलिए इनकी पोल नहीं खोलता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मीडिया की नजर से स्वार्थी तत्व ओझल है। स्वार्थी तत्वों की पहचान समाज भी करता है। समाज के पास भी स्वार्थी तत्वों के सम्बन्ध में एक समझ होती है। समाज अपने तरीके से इस समझ के आधार पर उन तत्वों का विवेचन करता है। इस विवेचन से सामाजिक मोह-माया से ऊपर उठने की बात नहीं होती है। सच तो यह है कि अधोपतन के बल पर स्वार्थी तत्व जीने का काम करता है।

स्वार्थी तत्व समाज के गरीब तबकों को अपने हित में इकट्ठा करते हैं। इन तबकों की ताकत को स्वाथत्तत्व अमृत देकर समाप्त करता है। इन स्वार्थी तत्वों के लिए जमीन-आसमान में फर्क नहीं रहता है। हर वक्त तुलना करने के चक्कर में अपनी रोटी को सेंकना इन तत्वों की विशेषता होती है। आश्चर्य तब होता है, जब उनके मुंह से हित की बातें सुनने को मिलती हैं।

व्यवहार में स्वार्थी तत्वों का जोड़ा मिलना असंभव है। इन दिनों एक संस्कृति निर्मित होने लगी है। खाओ –पीओ के साथ लाठी घुमाने की संस्कृति पैदा होने लगी है। यही कारण है कि बड़े पैमाने पर अपराध बढ़ने लगा है। अपराध के लिए भारतीय मीडिया की तत्परता सर्वविदित है। इस तत्परता को और सक्रिय करने के प्रति आग्रह दिखता है। इस आग्रह को समझना तथा उसके अनुकूल काम करना कठिन है। वैसे मीडिया काम करता है। ऐसी स्थिति में विद्वानों का यही कहना है कि मीडिया के जरिये प्रचार पर सबसे अधिक जोर देना चाहिए।

सच तो यह है कि पूरी दुनिया मंदी की मार झेल रही है। इस मार से बचने के लिए कोई उपाय नहीं दिख रहा है। लुटेरे अपना वेश बदलकर लूट कर रहे हैं। मीडिया कभी उनकी सच्चाई को सामने लाता है, तो कभी सच के नाम पर कंठीमाला लेकर रंगमंच की शोभा बढ़ाता है। शोभा बढ़ाने वालों की भीड़ धीरे-धीरे घटती और छटती जाती है। मीडिया चाहकर भी उसकी स्थिति को नियंत्रित नहीं कर पाता है। ऐसा नहीं है कि पूरा समाज ही खत्म हो गया है। इस समाज को बचाने वालों की संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ रही है। मीडिया उनके कार्यों पर रोशनी डालता है। इससे समाज का हित होता है। यह हित उस तरह नहीं दिखलायी पड़ता, लेकिन उसका असर अमर है। इस अमरत्व को बड़े पैमाने पर स्थापित करने की कोशिश की जाती है।

अमरत्व स्थापित होता भी है। लेकनि उसका लाभ उन लोगों को मिलता है, जिन लोगों ने इस समाज को नरक में मिला दिया है। जिन लोगों ने समाज को बनाने के नाम पर कुकुरकुंडली को जन्म दिया है, उन लोगों की कार्यशैली पर मीडिया ने नजर दी है। उससे निश्चिततौर पर मीडिया को लाभ मिला है। मीडिया के लाभ का सीधा अर्थ है –विज्ञापन मिलना और दर्शक-

बढ़ना। इस ग्लोबल युग में पाठक धीरे-धीरे दर्शक बनते जा रहे हैं। मीडिया ने इस सच को सामने लाया है। इससे सच का विवेचन हुआ है। यही कारण है कि स्वार्थी तत्वों को एक झटके में दरकिनार कर दिया जाता है। उन तत्वों के पास नैतिक बल नहीं होता है। वे तत्व भीतर से कमजोर होते हैं। उनकी औकात कागज के बाघ के समान होती है।

मीडिया को समाज पर एक ऐसा प्रभाव डालना पड़ता है, ताकि दिन की रोशनी में सब कुछ साफ-साफ दिखने लगे। देखने से बातें स्पष्ट हो जाती हैं। दृश्य-काव्य का इसलिए महत्व आज भी बरकरार है। पर इस ग्लोबल युग ने विखंडन पर जोर दिया है। इसके चलते समाज में गतिरोध पैदा हुआ है। यह समाज के लिए अशुभ है। यही कारण है कि इस मौके का लाभ उठाकर स्वार्थी तत्वों ने अपनी लीला शुरू की है। इस पर अंकुश लगाने का समय आ गया है। यह काम मीडिया के जरिये ही संभव है। भारतीय मीडिया इस कार्य को धीरे-धीरे आगे बढ़ा रहा है। प्रौद्योगिकी विकास और सूचनात्मक वृद्धि ने निश्चित तौर पर इस धरती को रहने लायक बनाने की कोशिश शुरू की है। ऐसी स्थिति में यदि मानव-हितैषी प्रचार को आगे बढ़ाया जाता है, तो यही समझना चाहिए कि समाज के लिए आगे बढ़ने का मौका मिल रहा है। भारतीय मीडिया हर हाल में अग्रगति की गारंटी देते हुए प्रभाव को तेजोदीप्त करने में जुटा हुआ है। इसके लिए बड़े पैमाने पर एकजुट होकर यही कहना आवश्यक है कि एक धक्का और दो; स्वार्थी तत्वों को हिला दो।

हिन्दुस्तानी सिनेमा में स्त्री

मीडिया में स्त्री समस्याओं को ध्यान में रखते हुए स्त्री समस्याओं पर सवाल उठाया है। इस संदर्भ में हिन्दुस्तानी सिनेमा पर गम्भीर विचार करना उचित

है। इस अवदान का सांगोपांग चित्रण यत्र-तत्र उपलब्ध है। स्त्री के बिना न मीडिया चल पाता है न सिनेमा, पर स्त्री को इतनी समस्याएं क्यों हैं। क्या स्त्री सशक्तिकरण पर इन समस्याओं का समाधान सम्भव है? यह दोनों प्रश्न विचारणीय है। महिला सशक्तिकरण पर ज्यादा जोर दिया जाता है। जितना इस पर बल नहीं दिया जाता है, उससे कहीं ज्यादा इसका प्रचार किया जाता है। इस वैश्वीकरण युग में महिला सशक्तिकरण के व्याकरण को दुरुस्त करने के नाम पर विभिन्न गतिविधियों को बढ़ाने का प्रयास निश्चित रूप से एक सार्थक प्रयास है। यह सही है कि आधा आकाश ही विकास की मुख्य शक्ति है। इसके बिना किसी समाज का उत्थान होना असंभव है। जिस समाज ने इस आधे हिस्से को उठाने का प्रयास किया है, उस समाज का रूप-रंग ही कुछ अलग रहा और जिसने इस आधे हिस्से को दबाने का काम किया, उस समाज का पतन ही हुआ।

इतिहास के पन्नों पर महिलाओं की गौरव-गाथा सुरक्षित है। इस गौरव-गाथा के विवेचन से यही साबित होता है कि महिलाओं ने सदा उत्सर्ग किया। महिलाओं के न्यौछावर ने समाज को पुष्पित होने का मौका दिया।। इस मौके को प्राप्त करने के चलते समाज का संघर्ष आगे बढ़ा। समाजशास्त्रियों का कहना है कि समाज विकासधारा के साथ-साथ महिलाओं का भी विकास होता है। इस विकास के जरिये जिस तरह परिवार से लेकर राष्ट्र शक्तिशाली बनता है, ठीक उसी तरह इस विकास की गाथा आने वाली पीढ़ी को आलोकित करती है। दरअसल जीवन का चौतरफा विकास ही सशक्तिकरण है। हर समाज अपने-अपने ढंग से महिला सशक्तिकरण के संदर्भ में सोचता है तथा अपने-अपने विचार को लागू करता रहा है। विगत एक सौ साल में महिलाओं के विकास पर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि महिलाओं का विकास हुआ। इस विकास में हिन्दुस्तानी सिनेमा की भूमिका रही है।

विगत एक सौ साल में हिन्दुस्तानी सिनेमा ने महिलाओं को आगे बढ़ने में अहम् भूमिका का निर्वाह किया है। आज हिन्दी सिनेमा का मान-सम्मान पूरी दुनिया में है। विश्व बाजार में हिन्दी सिनेमा ने अपनी विशेषताओं को स्थापित किया है। कहने के लिए सिनेमा मनोरंजन का साधन हो, लेकिन इसने विश्व बाजार को आर्थिक तौर पर त्वरित किया है। भारत में प्रत्येक साल प्राय: 1500 फीचर फिल्में बनायी जाती हैं। हिन्दी फिल्मों की तादाद प्राय: 200 से अधिक। इस देश में कुल 16000 सिनेमाघर हैं। हमारे देश में प्रत्येक साल 3500 करोड़ टिकट बिकते हैं। इस देश का फिल्म बाजार 25 हजार करोड़ रुपये का है। विविधता और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से हिन्दी सिनेमा की अपनी साख है। इस साख पर चाहे जितने खतरे हों, हिन्दी सिनेमा हर दृष्टि से दनादन आगे निकल रहा है। इसके हजार कारण हो सकते हैं, लेकिन इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इस हिन्दी सिनेमा ने महिलाओं का सशक्तिकरण करने में अहम् भूमिका का निर्वाह किया। इस सिनेमा ने प्रतिवाद को स्थापित किया है।

वैसे हिन्दुस्तानी सिनेमा पर लाख प्रश्न उठाये जाते हैं। उन प्रश्नों के आधार जायज हो सकते हैं, लेकिन एक सवाल सच है कि सामाजिक बहस के साथ-साथ बहस सांस्कृतिक को इस हिन्दुस्तानी सिनेमा ने एक आयाम दिया। इस आयाम के चलते चाहे जो हो, इतना सच है कि समाज में कुचलने की प्रवृत्ति कम हुई। गहराई में जाकर देखा जाय, तो स्पष्ट होगा कि महिलाओं के विरुद्ध एक सोची-समझी साजिश चलती है। इसके पीछे कई कारण हैं। समाज में जब तक विवेकात्मक ज्ञान की श्री-वृद्धि नहीं होगी, तब तक हमारा समाज महिलाओं के प्रति अपनी भावना को भी नहीं बदल सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि देश के किसी कोने से फरमान आयेगा, और महिलाओं की ताकत बढ़ जायेगी।

महिलाओं की ताकत तभी बढ़ेगी, जब उन्हें काम करने का मौका दिया जाय। महिलाओं को बढ़ने का मौका ही नहीं दिया जाता है। यदि किसी क्षेत्र में महिलाएं आगे बढ़ती हैं; तो उस क्षेत्र को बेहाल बना दिया जाता है।

आपसी कलह को बढ़ाकर उस क्षेत्र का मटियामेट कर दिया जाता है। यह दु:ख की बात है कि आजादी के 66 साल होने के बाद भी महिलाओं को समान अधिकार नहीं दिया गया।

हमारे देश में महिलाओं के सशक्तिकरण की बात कागज पर होती है या कहीं कभी-कभार परिचर्चाएं आयोजित की जाती हैं। कहने के लिए महिला कल्याण विभाग है। पर उस विभाग का काम न महिलाओं के लिए होता है और न कल्याण के लिए ; यह विभाग नाम गिनाने के वास्ते है। अभी तक इस देश की संसद में महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण नहीं दिया गया। देश की संसद में हर बिल पारित हो जाता है, लेकिन किस कारणवश इस बिल को पारित नहीं किया जाता है, इस संदर्भ में एक प्रतिवेदन भी किसी अखबार में नहीं छपता है।

देश में महिलाओं के उत्थान के लिए हजारों योजनाएं बनायी गयीं, लेकिन एक भी ऐसी योजना नहीं है, जिस पर देशवासी गर्व कर सकें, क्योंकि कुछ योजनाएं जन्म लेकर खत्म हो गयीं, तो कुछ योजनाएं बनने के बाद भ्रष्टाचार-कदाचार की शिकार हो गयीं। कहने के लिए महिलाओं के नाम पर योजनाएं बनीं, लेकिन एक भी योजना अपने अंतिम रूप तक नहीं पहुँच पाती। यदि किसी योजना की सफलता झलकती है, तो सामाजिक विकासधारा के चलते ही कहा जाता है कि अमुक क्षेत्र में विकास हुआ है। इस विकास को आंकड़ों के आईने में प्रस्तुत किया जाता है। जब देखा जाता है कि यहां तर्क और तथ्य हैं, तब वहां राजनीति आरंभ होती है। राजनीति का स्वरूप भी अपने -अपने ढंग से दिखने लगता है। जो जीता वही सिकंदर की कहावत चरितार्थ होती है। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रचार के जरिये महिलाओं के विकास के आंकड़े दिये जाते हैं,लेकिन वास्तविकता कुछ और है।

यदि सही माायने में महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया होती, तो आज जिस तरह से महिलाएं लांक्षित-अपमानित हो रही हैं, उस तरह से उन्हें लांक्षित-वंचित नहीं किया जाता। बनाने के लिए महिलाओं की सुरक्षा के लिए नियम-कानून बना दिये जाते हैं, लेकिन उन नियम-कानूनों का पालन नहीं

होता है। यदि सही ढंग से नियम-कानून का पालन नहीं हो रहा है, तो यही समझना चाहिए कि कहीं-न-कहीं जनतंत्र की उपेक्षा की जा रही है। समाज-विज्ञान के विद्वानों का मानना है कि जनतंत्र के मजबूत होने से महिलाओं की साख और बढ़ेगी। कुछ विद्वान मानते हैं कि महिलाओं की साख बढ़ने से जनतंत्र मजबूत होगा।

जनतंत्र और महिलाओं के बीच एक एक उदीयमान विचार छिपा हुआ है। यानी जनतांत्रिक प्रक्रिया के जरिये महिलाओं को आगे आने में मौका मिलता है। सबसे पहले महिलाओं को बोलने का अधिकार देना आवश्यक है। अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य सशक्तिकरण का पहला हथियार है, जिस बल पर समाज में बोलने का अधिकार प्राप्त होता है। प्रभुत्वशाली इसी पर सबसे पहले चोट पहुँचाते हैं। सबको चुप करने की वर्चस्ववादी विचारधारा ने इस दुनिया को बोलने से बार-बार रोका है। इससे आगे बढ़ने की प्रवृत्ति कमजोर हुई है। इस कमजोर प्रवृत्ति को दुरुस्त करने का प्रचलन चाहे जब से आरंभ हुआ हो या चाहे जिस माध्यम से शुरू हुआ हो, लेकिन इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तानी सिनेमा की भूमिका सदा स्मरणीय रहेगी।

सबसे बड़ी बात यह है कि हिन्दुस्तानी सिनेमा ने स्त्री दमन का सही चित्र प्रस्तुत किया। इस देश में विगत सौ सालों से हिन्दुस्तानी सिनेमा ने लगातार स्त्री दमन के चित्र को उभारने का प्रयास किया। स्त्रियों का दमन खेत के मेड़ से लेकर हवा में उड़ते विमान तक होता है। दमन के प्रकार जिस तरह अलग-अलग हैं, फिल्मों में उसकी मात्रा भी अलग-अलग है। इस दमन को यथार्थवादी नजरिये से प्रस्तुत किया गया,कभी-कभी इसका चित्रण नवयथार्थवादी नजरिये से किया गया। इस बारे में भूमिका, निकाह,साज बाजार, दस्तक, ममता, अभियान, गरम हवा, जख्म, गंगाजल,फैशन जैसी सैकड़ों फिल्में हैं, जिन फिल्मों ने स्त्री-दमन के विरुद्ध एक तरह से आजाव उठायी है। दरअसल किसी समस्या का सही चित्रण ही उसका समाधान है।

मीडिया: अंधे दौर में सनसनी भौंचक

सिनेमा और मीडिया का सम्बन्ध अनुठा है। सिनेमा अपने बाजार को विस्तार देने के लिए मीडिया का इस्तेमाल करता है, जबकि मीडिया सिनेमा से जुड़े कई सवालों का हल ढूँढ़ने का प्रयास करता है। इस प्रयास की समीक्षा करने की खुली छूट मीडिया के दर्शकों को दी जाती है। मीडिया में बार-बार सिनेमा में स्त्री दमन के कारण पर चर्चा की जाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि हिन्दुस्तानी सिनेमा ने स्त्री दमन का सही चित्र प्रस्तुत किया। इस देश में विगत सौ सालों से हिन्दुस्तानी सिनेमा ने लगातार स्त्री दमन के चित्र को उभारने का प्रयास किया। स्त्रियों का दमन खेत के मेड़ से लेकर हवा में उड़ते विमान तक होता है। दमन के प्रकार जिस तरह अलग-अलग हैं, फिल्मों में उसकी मात्रा भी अलग-अलग है। इस दमन को यथार्थवादी नजरिये से प्रस्तुत किया गया,कभी-कभी इसका चित्रण नवयथार्थवादी नजरिये से किया गया। इस बारे में भूमिका, निकाह,साज बाजार, दस्तक, ममता, अभियान, गरम हवा, जख्म, गंगाजल,फैशन जैसी सैकड़ों फिल्में हैं, जिन फिल्मों ने स्त्री-दमन के विरुद्ध एक तरह से आवाज उठायी है। दरअसल किसी समस्या का सही चित्रण ही उसका समाधान है।

हिन्दी सिनेमा में स्त्री-दमन का रूप आत्मकथा से आरंभ होता है। आत्मकथा एक ऐसी विधा है, जहां दमन को सही रूप में देखा जा सकता है। दमन का विरोध सही कदम उठाने से ही होता है। दमन की तस्वीरों को उपस्थित करने में श्याम बेनेगल, प्रकाश झा, नागेश कुकनूर, केतन मेहता का नाम सदा आदर के साथ लिया जायेगा। सबसे बड़ी बात यह है कि इन फिल्म निर्देशकों ने हिन्दुस्तानी सिनेमा की कमान उस समय संभाली, जब पूरा का पूरा दौर ही बदल रहा था। यह सच है कि बीसवीं शताब्दी की जो समस्याएं थीं, उन समस्याओं को लेकर बढ़ने के बजाय उनके सही वस्तुपरक चित्रांकन ने समाज को सोचने के लिए बाध्य किया।

मिर्च-मसाला, रंगरसिया, मृत्यु-दंड, दामुल, डोर, दामिनी जैसी फिल्मों ने दमित आत्मा को सोच्चार किया। दमित भावना के विरुद्ध किस तरह चीत्कार करना चाहिए, उसकी बानगी इन फिल्मों में देखने को मिली। इसी तरह मदर इंडिया के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उस सिनेमा की केंद्रीय पात्र

राधा ने इस दुनिया को यह बता दिया कि यदि समाज में बचना चाहते हो, तो हमसे सीखो। राधा ने इस दुनिया को ललकारते हुए महिलाओं के जीवन में नयी संभावनाओं को स्थापित किया है। इसके जरिये हजारों-हजारों राधाओं को बोलने का साहस मिला। दमन सम्बन्धी विभिन्न विषयों को हिन्दुस्तानी सिनेमा ने सामने लाया। समाज को पता भी नहीं था कि किन-किन विषयों को सामने रखते हुए दमन किये जाते हैं, उन विषयों को दिखाने के लिए हिन्दुस्तानी सिनेमा ने जिस तरह की पहल की, वह पहल निश्चित रूप से सराहनीय है।

हिन्दी सिनेमा को जहां आरंभिक दौर में देश में व्याप्त सामंती संस्कारों के विरुद्ध आवाज उठानी पड़ी है, वहीं आजादी के बाद सामाजिक विषमताओं को रेखांकित करना पड़ा है। शिक्षित बेरोजगारों की कथा को भी हिन्दी सिनेमा ने प्रस्तुत किया है। कौन नहीं जानता कि शिक्षा के जरिये सशक्तिकरण का अवसर मिलता है। इस मौके का लाभ उठाकर जब हमारा समाज आगे बढ़ता है, तो उसे एक विकट संकट का सामना करना पड़ता है। पढ़े-लिखे लोगों के सामने रोजगार की समस्याओं के बारे में भी सही चित्रण प्रस्तुत किया गया। सिनेमा ने समाज के यथार्थ को दृष्टि में रखने का प्रयास किया। सच को किस तरह से देखा जाय, यह समझ सिनेमा के जरिये समाज में स्थापित हुआ।

यथार्थवादी नजरिये को आगे बढ़ाने में सत्यजित राय, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, मणि कौल,बासु चटर्जी, अडूरगोपाल कृष्णन, कुमार शाहनी, गौतम घोष, सई परांजये, केतन मेहता, जी, अरविंदन जैसे निर्देशकों ने सिनेमा को आगे बढ़ाया। सिनेमा के जरिये स्त्री मुक्ति के सवाल को बल मिला है। इसी तरह दलित और आदिवासी समुदाय की स्त्रियों की समस्याओं का चित्रण भी फिल्मों के जरिये किया गया। श्याम बेनेगल ने आरोहण में दलित चेतना को स्पष्ट किया है। जगमोहन मुंदरा ने कमला में आदिवासी स्त्रियों की समस्याओं को प्रस्तुत किया। हिन्दी सिनेमा ने यह भी स्थापित किया है कि आदमी को स्त्री से डर लगता है। इसलिए विभिन्न संस्कृतियों ने स्त्रियों को दबाने में खुद को नियोजित किया। यह एक तरह से गलत धारणा बन गयी थी। इस गलत धारणा को तोड़ते हुए समाज ने स्त्रियों को बाहर निकालने का काम किया है। और जब यह देखा

गया कि स्त्री का सशक्तिकरण हो रहा है, तब उसके विरुद्ध आवाज उठने लगी।

हिन्दुस्तानी सिनेमा पर कई तरह के आरोप-प्रत्यारोप लगाये जा रहे हैं। हिन्दुस्तानी सिनेमा द्वारा वर्णित देह के व्याकरण और वस्त्र के विन्यास पर विभिन्न तरह के आरोप लगाये गये हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति ने इस व्याकरण और वस्त्र विन्यास का लाभ उठाया है। कहना मुश्किल है कि उस संस्कृति को क्या लाभ मिला; लेकिन तात्कालिक मुनाफा लूटने के लिए उसके कारनामे निन्दनीय ही रहे। इससे समाज में एक सही समझ स्थापित होती है। खासकर बड़े-बड़े साहित्यकारों ने हिन्दी सिनेमा को एक बेहतर मुकाम प्रदान किया है। प्रेमचंद से लेकर मन्नु भंडारी तक के महान साहित्यकारों ने हिन्दुस्तानी सिनेमा को विचार और कला दोनों दृष्टियों से सम्पन्न किया। इस सम्पन्नता के साथ-साथ गांव-शहर-कस्बा आदि स्थानों की भयावह परिस्थिति को प्रस्तुत करने में सहायता मिली।

सामाजिक जागरुकता फैलाने में हिन्दी डॉक्यूमेंट्री फिल्मों के सराहनीय कदम सदा याद किये जायेंगे। महत्वपूर्ण सवाल यह है कि इस हिन्दुस्तानी सिनेमा ने विगत एक सौ साल का मूल्यांकन करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि इस भयानक अंधे दौर में स्त्रियों को कौन-सा रास्ता अपनाना है, ताकि स्त्रियां पूरी निडरता के साथ जी सके तथा एक रहने लायक दुनिया बना सकें। स्त्रियों ने अपने रास्ते की सही पहचान की है। स्त्री-सशक्तिकरण से ही इस दुनिया में व्याप्त यातना का एक हद तक खात्मा हो सकता है। महान कवि मुक्तिबोध के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्त्रियों ने इस अंधे दौर को पहचाना है। मुक्तिबोध की प्रसिद्ध पंक्तियां हैं: अधूरी और सतही जिंदगी के गर्म रास्तों पर/अचानक सनसनी भौंचक/ कि पैरों के तलों को काट खाती कौन-सी यह आग ?/ जिससे नच रहा हूँ मैं,/खड़ा भी हो नहीं सकता न चल सकता,/भयानक हाय अंधा दौर!

इस अंधे दौर से निकलने का एक ही रास्ता है, जब पूरा समाज एकजुट होकर आगे बढ़े। चकमकाती दुनिया में स्त्रियों को अपने अधिकार हासिल करने के लिए हर स्तर पर शक्ति अर्जित करनी होगी। सशक्तिकरण उसी का एक हिस्सा

है, जिसे पुष्ट करने में हिन्दुस्तानी सिनेमा की महत्ता असीम है। इस असीम की व्याख्या मुक्तिबोध की इन पंक्तियों में की जा सकती है; यथा: अरे जन-संग उष्मा के/ बिना, व्यक्तित्व के स्तर जुड़ नहीं सकते/ ... कि अपनी मुक्ति के रास्ते/ अकेले में नहीं मिलते/

शायद इसलिए मीडिया के प्रचार-प्रसार से सिनेमा को आगे बढ़ने में सहूलियत मिलती है। कौन जानता है कि मीडिया और सिनेमा एक साथ मिलकर मुक्ति की राह की तलाशते हैं या अलग-अलग; पर संघर्ष-पथ पर यदा-कदा दोनों का दर्शन हो जाता है। सही अर्थों में सिनेमा का बाजार है और मीडिया भी बाजार में खड़ा है। कौन किस पर भारी है, कौन बतायेगा ?